CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

1212

परामर्श

(हिंदी)

खण्ड ११ अंक १

दिसम्बर, १९८९ / मार्गशीर्ष–पौष, २०४६

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे — राजेन्द्र प्रसाद

आनन्दप्रकाश दीक्षित — मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

☐ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

☐ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ☐ राजेन्द्र प्रसाद ☐ आनन्दप्रकाश दीक्षित ☐ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ☐ रमाकान्त सिनारी ☐ विजयकुमार भारद्वाज ☐ शारदा जैन संगमलाल पांडे ☐ आर्. बालसुब्रमणियन् ☐ अशोक रा. केळकर ☐ के. जे. शहा ☐ नारायणशास्त्री द्राविड ☐ के. सच्चिदानंद मूर्ति ☐ जी. सी. नायक ☐ ग. ना. जोशी ☐ मोहनलाल मेहता ☐ जे. फाईस ☐ सुमन गुप्ता ☐ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ☐ सु. ए. भेलके ☐ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०–००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०–००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०–००
एक प्रति	रु. ८–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०–००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००–००

☐ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्पादकीय

परामर्श (हिन्दी) यह तात्त्विक वैचारिका पत्रिका गत दस वर्षों से अनवरत प्रकाशित होती आ रही है। पत्रिका के अस्तित्व में एक दशक का कालावधि यह कोई बड़ा लम्बा समय नहीं माना जा सकता। तथापि इस अवधि में लोगों ने इसे हिन्दी में एक प्रतिष्ठित पत्रिका की हैसियत से स्वीकार किया है यह सन्तोष की बात है। पत्रिका का स्तर बनाये रखने में तथा अधिकाधिक मात्रा में मौलिक तथा वैचारिक सामग्री प्रकाशनार्थ पत्रिका के पास उपलब्ध हो इसलिये लेखकों तथा अनुसन्धानकर्ताओं से विनम्र अनुरोध है कि वे पत्रिका को अपना महनीय सहयोग प्रदान करें।

डाक–व्यय, कागज़, छपाई आदि की हर वर्ष बढ़ने वाली दरें ध्यान में लेते हुए व्यक्तियों तथा संस्थाओं के लिये आजीवन / स्थायी या वार्षिक सदस्यता–शुल्कों में ग्यारहवें खण्ड से बडे कष्ट के साथ परिवर्तन तथा वृद्धि की जा रही है। ऐसा करने के सिवा दूसरा कोई उपाय ही रह न जाने के कारण यह कदम बडे दुख के साथ उठाना पड़ा है। आशा है कि आज तक जिस प्रकार का सहयोग पत्रिका को व्यक्तियों और संस्थाओं से मिलता आ रहा है उसी प्रकार के सहयोग से पत्रिका भविष्य में भी लाभान्वित होती रहेगी।

अन्त में व्यक्तियों तथा संस्थाओं से विनम्र अनुरोध है कि वे अधिकाधिक संख्या में अपनी सदस्यता से पत्रिका को अनुगृहीत करें।

सम्पादक

[illegible]
बी २/२७५, [illegible]
[illegible]
पिन–२२१००६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संबद्धता और उसके प्रकार

–१–

भाषाविज्ञान और व्याकरण में मुख्यतः भाषा के नियमों और सिद्धान्तों की चर्चा होती है। कब और कैसे किस शब्द, रूप या रचना का प्रयोग होगा—संक्षेप में यही भाषाविज्ञान है। दूसरी ओर शुद्धतावादी व्याकरण भाषा के नियमों को निर्धारित करता है जिनके आधार पर भाषा का एक प्रयोग शुद्ध तथा अन्य प्रयोग अशुद्ध माने जाने लगते हैं।

भाषा के प्रयोगों का एक दूसरा पक्ष भी है जिसमें भाषा को हम जीवन से जोड कर देखते हैं। भाषिक साधनों को देखने की यह दृष्टि अधिक जीवन्त है। इसके अंतर्गत भाषा के प्रयोगों को वस्तुजगत् तथा जीवन की वास्तविकता की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया जाता है और यह भी देखा जाता है कि मानवीय चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिये किस प्रकार भाषा के विभिन्न साधन प्रयोग में आते हैं। इसमें हम भाषा के प्रयोग को नियमों और सिद्धान्तों के आधार नहीं देखते हैं। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में भाषिक साधनों के प्रयोग और उनके नियमों को सामने रखा जाता है तथा शुद्धतावादी व्याकरण में भाषिक साधनों के प्रयोग के नियम बना या बता दिए जाते हैं। जैसे : 'उनका एक बेटा है' या 'उनके एक बेटा है।'—भाषाविज्ञान इन दोनों प्रयोगों को सही और शुद्ध मानेगा परन्तु शुद्धतावादी व्याकरण इनमें से किसी एक को शुद्ध तथा दूसरे को अशुद्ध मानेगा। ऐसे प्रयोगों के प्रति एक तीसरा दृष्टिकोन हो सकता है कि यदि वास्तविकता की अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं पडता तो दोनों ही प्रयोग ग्राह्य हैं। प्रस्तुत लेख में यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसमें हमने संबद्धता[1] को सामाजिक चिन्तन के रूप में देखते हुए उसकी अभिव्यक्ति के भाषिक साधनों का अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा वाक्य के ढाँचों को भी वास्तविकता से जोड़ कर देखा है।

परामर्श, (हिन्दी), वर्ष ११, अंक ५, दिसम्बर १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

–२–

वाक्य के स्तर पर संबन्ध की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी में संबन्धसूचक परसर्ग का[३] तथा होना क्रिया का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये :

(१) सुन्दरलाल के तीन बेटे हैं।

(२) शर्मा जी के दो मकान हैं।

इन वाक्यों में क्रमशः परिवार के सदस्यों (सुन्दरलाल और उनके बेटों) तथा संपत्ति (मकान) और उसके स्वामी (शर्मा जी) के संबन्ध को व्यक्त किया गया है। चूंकि संबन्ध शब्द का प्रयोग और भी कई अर्थों में होता है इसलिये उनके इन अर्थों का परिसीमन करते हुए हम यहाँ 'संबद्धता' शब्द का प्रयोग करना उचित समझते हैं। संबद्धता के उल्लिखित प्रकारों को वंशमूलक संबद्धता तथा संपत्ति मूलक संबद्धता कहा जा सकता है।[४]

संबद्धता को अभिव्यक्त करने वाली वाक्यरचना को हम संबद्धताबोधक वाक्यरचना कह सकते हैं। ऊपर आए वाक्य–१ और वाक्य–२ में प्रयुक्त संबद्धता–बोधक वाक्यरचना का ढाँचा इस प्रकार है :

(क) क–का– ख –होना[५]

अथवा :

(ख) स–का – स – होना[६]

इस ढाँचे में 'क' और 'ख' की संबद्धता स्पष्ट है। 'क' के स्थान पर संबद्ध पदार्थ का वाचक पद आएगा तथा 'ख' के स्थान पर उस पदार्थ का वाचक पद आएगा जिससे उसकी संबद्धता है। वाक्य अथवा उक्ति में 'क' और 'ख' की भूमिका को देखते हुए तथा आगे के विवेचन की सुविधा के लिये हम 'क' को धारक तथा 'ख' को धारित कह सकते हैं। ऊपर के उदाहरणों में 'सुन्दरलाल' और 'शर्मा जी' धारक हैं तथा 'तीन बेटे' और 'दो मकान' धारित।

हम देखते हैं कि इस ढाँचे में 'ख' (धारित) के स्थान पर जातिवाचक संज्ञा का प्रयोग हुआ है तथा 'क' (धारक) के स्थान पर व्यक्तिवाचक संज्ञा का। इसलिये इस ढाँचे को ऐसे भी प्रस्तुत किया जा सकता है :

(ग) स (व्य.)–का – स (जाति.) – होना

धारक के रूप में संज्ञा का प्रतिस्थापन करनेवाला सर्वनाम भी आ सकता है। जैसे :

(३) उसके/उनके तीन बेटे हैं। (१)[७]

(४) उनके दो मकान हैं। (२)

(५) मेरी दो बहनें हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धारित के स्थान पर प्रयुक्त पद या शब्द का प्रयोग कर्ता (अविकारी) कारक में होता है, इसलिये उसे 'स$_१$' के रूप में अंकित किया जा सकता है। इसी तरह धारक ('स-का') के स्थान पर प्रयुक्त पद या शब्द का प्रयोग विकारी (अथवा संबन्ध) कारक[८] में होता है, इसलिये उसे 'स$_२$-का' के रूप में अंकित किया जा सकता है। इस तरह उक्त संबद्धताबोधक वाक्यरचना का पूरा ढाँचा इस प्रकार बनेगा :

(घ) स$_२$ (व्य.)-का-स$_१$ (जाति.) - होना

कर्ता कारक में प्रयुक्त 'स$_१$' वाक्य में उद्देश्य के रूप में आता है तथा विकारी कारक में प्रयुक्त 'स$_२$' विधेय का अंग होता है। हम देखते हैं कि इस ढाँचे में उद्देश्य और विधेय का प्रयोग सामान्य क्रम का विपर्यय होने से इसे वैपर्यित वाक्यरचना भी कहा जा सकता है। परन्तु प्रकार्यात्मक वाक्यविन्यास[९] की दृष्टि से यह सामान्य क्रम है जिसमें ज्ञात अंश ('स$_२$ (व्य.)-का') पहले आया है तथा अज्ञात अंश ('स$_१$ (जाति') बाद में।

अब ऊपर बताई गई दो प्रकार की संबद्धताओं पर विचार करते हैं।

-३-

वंशमूलक संबद्धता—वंशमूलक संबद्धता का आधार है धारक और धारित का एक ही वंश अथवा परिवार का होना। दूसरे शब्दों में 'स$_१$' शक्ता 'स$_२$' से संबन्ध इस आधार पर होता है कि दोनों एक ही वंश के अंतर्गत आते हैं। उदाहरण के लिये :

(१) सुन्दरलाल के तीन बेटे हैं।

(६) राजा दशरथ के चार पुत्र थे।

(७) उनकी/उनके एक लडकी है।

इन सभी उदाहरणों में धारित पदार्थ के वाचक पद के साथ संख्यावाचक शब्द का प्रयोग हुआ है। संतान का उल्लेख करते समय संख्या भी बता देना स्वाभाविक ही है। उक्त वाक्यों में से संख्यावाचक शब्द हटाना संभव नहीं है।

इन वाक्यों को सामान्य अनुतान में बोला जाएगा। संख्यावाचक शब्द पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। केवल विशेष परिस्थिति या संदर्भ में ही संख्यावाचक शब्द पर बल दिया जाएगा और तब उनके उच्चारण में तान ऊँची हो जाएगी।

अब एक अन्य उदाहरण लें :

(८) उनका/उनके एक बेटा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(९) उनके बेटा है।

यहाँ दोनों ही स्थितियों में बेटे की संख्या तो एक है परन्तु वाक्य–८ की अनुतान में 'बेटा' शब्द पर बल दिया गया है जिसका आशय है कि 'उनके बेटी नहीं, बेटा है'। इस वैषम्य को दिखाने के लिये यहाँ 'बेटा' के उच्चारण में तान ऊँची हो जाएगी।

३. १. पारिवारिक संबन्ध द्विपक्षीय तथा पारस्परिक होते हैं। इसलिये वंशमूलक संबद्धता वाले वाक्यों में धारक और धारित की भूमिका को बदल कर वंशमूलक संबद्धता को दो अलग–अलग प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

उदाहरण के लिये :

(१०) सुन्दरलाल का एक भतीजा है। उसका नाम राजेश है।

(११) राजेश के एक चाचा हैं। उनका नाम सुन्दरलाल है।

उल्लेखनीय है कि यहाँ 'एक' का प्रयोग परिचय देने के लिये हुआ है, न कि संख्या बतान के लिये। यह परिचय दूसरे वाक्य में भतीजे का (वाक्य–१०) और चाचा का नाम (वाक्य–११) बताने से पूरा होता है। इन वाक्यों के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि 'सुन्दरलाल का एक ही भतीजा है' या 'राजेश के एक ही चाचा हैं'। परन्तु यदि केवल इतना ही कहें कि 'सुन्दरलाल का एक भतीजा है', 'राजेश के एक चाचा हैं' (ऊपर वाक्य–८ भी देखें) तो यहाँ पर 'एक' निश्चित संख्या का वाचक है जिसके उच्चारण में तान ऊँची हो जाएगी। इस प्रकार 'एक' शब्द के संख्यात्मक और परिचयात्मक प्रयोगों में अंतर करना आवश्यक है। परिचयात्मक प्रयोग केवल वाक्य के स्तर पर ही निश्चित किया जा सकता है क्योंकि वह तो संख्यावाचक 'एक' का मूल अर्थ नहीं है। परिचयात्मक एक का संख्यावाचक 'एक' से संबन्ध यह है कि परिचयात्मक 'एक' के द्वारा वास्तविक अथवा संभावित पदार्थों में से किसी एक का परिचय देने का उपक्रम किया जाता है।

संख्यात्मक और परिचयात्मक 'एक' का प्रयोग माता-पिता, दादा-दादी और नाना–नानी के साथ संभव नहीं है। इसका कारण भी स्पष्ट है। उक्त पारिवारिक सदस्यों में से कोई भी संख्या में एक से अधिक नहीं होता है। इसलिये उनकी संख्या का उल्लेख व्यतिरिक्त है, आवश्यक ही नहीं है। इन पारिवारिक सदस्यों के साथ परिचयात्मक 'एक' का प्रयोग भी संभव नहीं है क्योंकि माता-पिता, दादा-दादी और नाना–नानी का होना तो आवश्यक ही है जबकि अन्य संबन्धी हो भी सकते हैं और नहीं भी।

३. २. संबद्धताबोधक वाक्यरचना में जातिवाचक संज्ञा ('स$_{1}$') के स्थान पर व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग भी संभव है। ऐसी स्थिति में वाक्य का ढाँचा भी बदल जाता है। उदाहरणतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१२) सुन्दरलाल का बेटा रमेश है।

इस वाक्य में जातिवाचक संज्ञा 'बेटा' ($स_२$ (व्य.) का ' वाले वाक्यांश का अंग बन गई है। इस वाक्य में वाक्यांश 'सुन्दरलाल का बेटा' उद्देश्य है तथा वाक्यांश 'रमेश है' विधेय है। यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों नामिक तत्त्व हैं। विधेयक 'है' के प्रकार्य की दृष्टि से यह परिचयबोधक वाक्यरचना है (विश्वजीत १९७१, पृ. ७३)। प्रस्तुत वाक्य का उच्चारण सामान्य अनुतान में होगा, शब्द विशेष पर तान ऊँची नहीं होगी।

वाक्य-१२ का ढाँचा इस प्रकार है :

(ड.) $स_२$ (व्य)–का–$स_१$ (जाति) – $स_१$ (व्य)–होना

इस ढाँचे के अन्तर्गत उद्देश्य '$स_२$ (व्य.)–का – $स_१$ (जाति.) ') और विधेय ('$स_१$ (व्य.) – होना ') अपने स्वाभाविक क्रम में आते हैं। प्रकार्यात्मक वाक्यविन्यास की दृष्टि से भी यह सामान्य क्रम है क्योंकि वाक्य-१२ में ज्ञात अंश ('सुन्दरलाला का बेटा') पहले आया है और अज्ञात अंश ('रमेश है') बाद में। उक्त वाक्य में सुन्दरलाल के बेटे की पहचान उसके नाम (रमेश) के द्वारा कराई गई है।

इस ढाँचे के अन्तर्गत क्रम-विपर्यय भी संभव है :

(१३) रमेश सुन्दरलाल का बेटा है।

वाक्य-१२ और वाक्य-१३ के घटकों में कोई अंतर नहीं है। परन्तु क्रम-विपर्यय होने से यहाँ पर उद्देश्य ('रमेश') और विधेय ('सुन्दरलाल का बेटा है') बदल गए हैं क्योंकि इस ढाँचे में उद्देश्य और विधेय दोनों ही नामिक तत्त्व होते हैं। नामिक तत्त्व होने के कारण उनका वाक्यगत प्रकार्य वाक्य में उनके क्रम पर निर्भर करता है। इस प्रकार हम यह भी देखते हैं कि (घ) और (ङ) ढाँचों में मौलिक अंतर है। इन ढाँचों के अंतर को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करके भी स्पष्ट किया जा सकता है :

(च) $स_२ – स_१$ – होना (घ)

(छ) $स_१ – स_१$ – होना (ङ)

(छ) ढाँचे के अन्तर्गत '$स_१$' और '$स_१$' में पारस्परिक बदलाव संभव है जबकि (च) ढाँचे के अन्तर्गत '$स_२$' और '$स_१$' में पारस्परिक बदलाव संभव नहीं है क्योंकि दोनों में रूपात्मक अंतर है।

३.३ वाक्य-१२ में 'रमेश' ज्ञात अंश है और 'सुन्दरलाल का बेटा है' अज्ञात अंश। प्रस्तुत वाक्य रमेश नाम के व्यक्ति की पहचान कराता है जो कि सुन्दरलाल का बेटा है। इस वाक्य का उच्चारण सामान्य अनुतान में होगा, शब्द विशेष पर तान ऊँची नहीं होगी। इस प्रकार प्रकार्यात्मक वाक्यविन्यास की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2 .

दृष्टि से वाक्य-१२ और वाक्य-१३ में मूल अंतर ज्ञात और अज्ञात अंश का है। इसलिये उनके प्रश्न भी अलग-अलग प्रकार से बनेंगे :

(१४) सुन्दरलाल का बेटा कौन है ? (१२)

(१५) रमेश कौन है ? (१३)

यदि वाक्य-१३ की अनुतान बदल कर 'सुन्दरलाल' पर बल दिया जाए तो प्रश्न भी बदल जाएगा :

(१६) रमेश सुन्दरलाल ↑ का बेटा है। (१३) ''

(१७) रमेश किसका बेटा है ? (१६)

यहाँ पर 'सुन्दरलाल' और 'किसका' अज्ञात अंश हैं। वाक्य-१६ में रमेश नामक व्यक्ति की पहचान यह कह कर कराई गई है कि वह सुन्दरलाल का ही बेटा है, किसी और का नहीं।

३. ४. वंशमूलक संबद्धता वाले इन वाक्यों (सं. १२ और १३) में द्विपक्षीयता के आधार पर पारस्परिक बदलाव भी संभव है जैसा कि उपर हमने वाक्य–१० और वाक्य–११ में दिखाया है। उदाहरणत:

(१२) सुन्दरलाल का बेटा रमेश है।

(१८) रमेश के पिता सुन्दरलाल हैं। (१२)

(१९) सुन्दरलाल रमेश के पिता हैं। (१२)

यह परिवर्तन इस प्रकार के सामान्य अनुतान वाले वाक्यों में ही संभव है। यदि किसी शब्द पर विशेष बल दिया गया हो तो यह बदलाव संभव नहीं होगा जैसे कि वाक्य- १६ जिसमें 'सुन्दरलाल' शब्द पर तान ऊँची हो जाती है।

–४–

स्वामित्वमूलक संबद्धता

स्वामित्वमूलक संबद्धता में धारित पदार्थ धारक की वैध संपत्ति होता है। इसलिये अ. व. इसाचेन्को ने इसे विधिमूलक संबद्धता कहा है। उदाहरण के लिये :

(२) शर्मा जी के दो मकान हैं।

(२०) उद्योगपति बिरला की कई मिलें हैं।

संपत्ति के संदर्भ में हमारा ध्यान इस बात की ओर सहज ही चला जाता है कि संपत्ति दो प्रकार की होती है – अचल और चल संपत्ति। ऊपर दोनों उदाहरणों में अचल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति हुई है। और वही ढाँचा प्रयुक्त हुआ है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है अर्थात् ढाँचा-क या ढाँचा-ख।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी में पास परसर्ग का प्रयोग होता है, जैसे :

(२१) शर्मा जी के पास दो गाडियाँ हैं।

(२२) उसके पास पेन्सिल है।

(२३) मेरे पास पेन है।

इन वाक्यों का ढाँचा इस प्रकार है :

(ज) स-के पास – स – होना

इस ढाँचे में और ढाँचे-ख में केवल परसर्ग का अन्तर है।

अचल और चल संपत्ति के स्वामित्व में अन्तर करने के लिये ढाँचे ख और ढाँचे-ज को संशोधित करके इस प्रकार प्रस्तुत करना होगा :

(झ) $स_२$–का – $स_१$ (अच. संप.) – होना (ख)

(ञ) $स_२$–के पास – $स_१$ (च. संप.) – होना (ज)

४. १. कभी–कभी अचल संपत्ति के स्वामी के साथ भी पास परसर्ग का प्रयोग होता है :

(२४) शर्मा जी के पास दो मकान हैं। (२)

अर्थात् यहाँ ढाँचे-ञ का प्रयोग हुआ है। परन्तु ढाँचे–झ का प्रयोग साहित्यिक या लिखित भाषा में अचल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये कभी नहीं होता।

अचल संपत्ति के स्वामी के साथ के पास के प्रयोग को देख कर हम यह कह सकते है कि संपत्तिमूलक संबद्धता की अभिव्यक्ति के लिये ढाँचे–ञ के रूप में क्रमशः एक पृथक् साधन का विकास हो रहा है जो उसे वंशमूलक संबद्धता से अलग करता है। इसीलिये तो निम्नलिखित उदाहरण में जिसमें 'संपत्ति / जायदाद' का सामान्य अर्थ में प्रयोग हुआ है के पास का ही प्रयोग होगा (न कि का का) :

(२५) उनके पास बहुत संपत्ति / जायदाद है।

यहाँ सामान्य अर्थ में 'संपत्ति / जायदाद' के अन्तर्गत चल और अचल दोनों प्रकार की संपत्ति शामिल है।

४. २. चल संपत्ति अस्थायी रूप से किसी और के पास भी रह सकती है। उस स्थिति में भी यही ढाँचा प्रयुक्त होगा। तो फिर संपत्ति के अस्थायी धारक और उसके स्थायी स्वामी में अन्तर कैसे किया जाता है? यदि स्थायी और अस्थायी स्वामी में अन्तर करना हो तो संपत्ति के स्थायी स्वामी का उल्लेख स्वामित्वबोधक सर्वनाम अथवा '$स_२$–का' के द्वारा किया जाता है :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२६) मेरे पास उसकी पेन्सिल है।

(२७) राजा जनक के पास शिवजी का धनुष था।

यहाँ 'मैं' और 'राजा जनक' क्रमशः 'उसकी पेन्सिल' और 'शिवजी के धनुष' के अस्थायी स्वामी हैं, मात्र धारक हैं। स्थायी स्वामी तो 'वह' और 'शिवजी' हैं।

—५—

इस प्रकार वंशमूलक संबद्धता और संपत्तिमूलक संबद्धता के विश्लेषण से हमें यह पता चलता है कि भाषा का जीवन की वास्तविकता से कैसा गहरा संबन्ध है। वंशमूलक संबद्धता के अन्तर्गत हमने देखा कि पारिवारिक संबन्धों की विशिष्टता संबद्धताबोधक वाक्यरचना में स्वतः परिलक्षित हो जाती है।

हिन्दी में वंशमूलक संबद्धता को अभिव्यक्त करने वाली वाक्यरचना का प्रयोग संपत्तिमूलक संबद्धता के अन्तर्गत अचल संपत्ति के स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये भी होता है। सामाजिक इतिहास में संपत्ति परवर्ती तथा पारिवारिक संबन्ध पूर्ववर्ती है। इसलिये पारिवारिक संबन्ध वाले ढाँचे को ही संपत्ति और उसके स्वामी के संबन्ध के लिये अपनाया गया है। साथ ही अचल और चल संपत्ति के अंतर के कारण भाषा ने उनके स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिये दो भिन्न साधनों का विकास किया है।

५.१. वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिये भाषा केवल शब्दों का ही नहीं व्याकरण का भी आश्रय लेती है। भाषिक साधनों का विकास और विस्तार वास्तविकता की माँग पर होता है और उनमें नये—नये अर्थ आते हैं। यही सब ध्यान में रखते हुए हमने शाब्दिक और व्याकरणिक साधनों के द्वारा वास्तविकता के रूप में सामाजिक चिन्तन की अभिव्यक्ति का एक दृष्टान्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

हेमचन्द्र पाण्डे

रूसी अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली — ११० ०६७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. हिन्दी भाषाविज्ञान में संबद्धता के लिये स्वामित्व शब्द का प्रयोग होता है जो स्वामी और उसकी संपत्ति के सबन्ध का संकेत करता है। इसके अन्तर्गत वियोज्य वस्तु (जैसे: 'मोहन के पास तीस रुपये हैं') को तो संपत्ति के रूप में देखा ही जाता है, साथ ही अवियोज्य वस्तु (जैसे: 'सुशीला की तीन बहनें हैं' को भी संपत्ति मान लिया जाता है (सिंह १९८५, पृ. २१७)। उचित यह होगा कि स्वामित्व शब्द का प्रयोग केवल भौतिक संपत्ति का उसके धारक के साथ संबन्ध बताने के लिए ही किया जाए। इसलिये स्वामित्व से अधिक व्यापक अर्थ वाले शब्द की आवश्यकता को देखते हुए यहाँ 'संबद्धता' शब्द को अपनाया गया है।

२. पारंपरिक व्याकरण में ने, को, से, का (के, की) / रा (रे, री), में आदि को विभक्ति कहा जाता है और तदनुसार हिन्दी में आठ कारक माने जाते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये विभक्तियाँ नहीं, परसर्ग (पोस्टपोजीशन) हैं, उसी तरह जैसे अंग्रेजी में पूर्वसर्ग (प्रीपोजीशन) होते हैं। आधुनिक भाषा विज्ञान में जिसे परसर्ग कहा गया है कामताप्रसाद गुरु ने उसके लिये 'संबन्धसूचक' शब्द का प्रयोग किया है परन्तु उन्होंने विभक्ति और संबन्धसूचक में अन्तर किया है। संबन्धसूचक के अंतर्गत जो शब्द आते हैं उनका स्वतंत्र शब्द की तरह अपना अर्थ भी होता है तथा उनके साथ बहुधा के विभक्ति का प्रयोग होता है जबकि विभक्तियों का अलग से कोई अर्थ नहीं होता है (गुरु २०१९, पृ. १५५)। हिन्दी के व्याकरणों में अभी इस मामले में स्थिरता नहीं आई है।

पूर्वसर्ग और परसर्ग में प्रकार्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। दोनों को सामान्य रूप से संबन्धसूचक कहा जा सकता है। शब्द से पहले आने वाले संबन्धसूचक को हम पूर्वसर्ग या संबन्धसूचक पूर्वसर्ग कह सकते हैं तथा शब्द के बाद आने वाले संबन्धसूचक को परसर्ग कह सकते है। आधुनिक भाषाविज्ञान का अनुसरण करते हुए हमने विभक्ति के बदले संबन्ध सूचक परसर्ग शब्द को स्वीकार किया है।

३. संबद्धता की अवधारणा हमने अ. व. इसाचेन्को से ग्रहण की है (इसाचेन्को १९५४, पृ. १४१–१४५)। उनके अनुसार संबद्धता के दो प्रकार हैं : विधिमूलक संबद्धता (जैसे : 'उसके पास साइकिल है') तथा अंगमूलक संबद्धता (जैसे : 'उसकी नीली आँखें हैं')। विधिमूलक संबद्धता को हमने संपत्तिमूलक संबद्धता कहा है। हमारे विचार में यहाँ दोनों ही पारिभाषिक शब्द समीचीन हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंगमूलक संबद्धता की अभिव्यक्ति हिन्दी में दो प्रकार से होती है। (१) 'गाय के दो सींग होते हैं' और (२) 'उसकी नीली आँखें हैं'। यहाँ पहले वाक्य में 'का होता है' के द्वारा 'दो सींग' को सामान्य लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा दूसरे वाक्य में 'का है' के द्वारा 'नीली आँखें' को विशिष्ट लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

संबद्धता के दो और प्रकार भी संभव हैं : वंशमूलक संबद्धता और पूर्णांश-मूलक संबद्धता। इन चार प्रकार की संबद्धताओं की चर्चा हमने रूसी भाषा के संदर्भ में अन्यत्र की है (पाँडे –प्रकाशनाधीन)।

अंश और पूर्ण के संबन्ध की अभिव्यक्ति पूर्णांशमूलक संबद्धता के अन्तर्गत आती है जैसे (१) 'मेज़ की चार टाँगें होती हैं' और (२) 'इस मेज की तीन टाँगें हैं'। अंगमूलक संबद्धता की तरह यहाँ भी सामान्य लक्षण के लिये 'का होता है' का प्रयोग हुआ है तथा विशिष्ट लक्षण के लिये 'का है' का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार अंगमूलक और पूर्णांशमूलक संबद्धता में कुछ समानता दिखाई देती है। इन पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में हमने केवल वंशमूलक और संपत्तीमूलक संबद्धता पर विचार किया है।

४. 'होना' को यहाँ योजक क्रिया माना जाता है। इस क्रिया के अस्तित्वबोधक अर्थ की चर्चा हमने अन्यत्र की है (पाँडे, १९८४)।

५. यहाँ पर 'स' का प्रयोग संज्ञा अथवा सर्वनाम के प्रतीक स्वरूप किया गया है।

६. पदार्थ के अंतर्गत हमने सामान्य एवम् निरपेक्ष अर्थ में वस्तु और व्यक्ति दोनों का समावेश किया है।

७. कोष्ठक में उस वाक्य की संख्या दी गई है जिसका रचनान्तरण प्रस्तुत वाक्य में हुआ है।

८. पारंपरिक व्याकरण में का को संबन्ध कारक की विभक्ति माना जाता है। इसलिये हमने कोष्ठक में संबन्धकारक का भी उल्लेख किया है। आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार हिन्दी में केवल तीन कारक हैं : अविकारी (कर्ता) विकारी और संबोधन। यह प्रश्न भी विभक्ति और परसर्ग के प्रश्न से जुड़ा हुआ है (दे. ऊपर टिप्पणी सं. २) इस मामले में भी हिन्दी व्याकरण में अभी स्थिरता नहीं दिखाई देती है। हमने आधुनिक भाषाविज्ञान का अनुसरण करते हुए विकारी कारक को स्वीकार किया है परन्तु कोष्ठक में पारंपरिक पारिभाषिक शब्द का भी प्रयोग किया है।

९. प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान का विकास चेकोस्लोवाकिया के भाषा-वैज्ञानिकों ने किया है। इसके अंतर्गत वाक्य का विशेषण उसके संप्रेषणात्मक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार्य की दृष्टि से किया जाता है और उसके दो अंश माने जाते हैं : ज्ञात और अज्ञात अंश। उदाहरण के लिये : (१) कल नेहरू स्टेडियम में फुटबाल मैच होगा; (२) नेहरू स्टेडियम में फुटबाल मैच कल होगा; और (३) कल फुटबाल मैच नेहरू स्टेडियम में होगा। इन वाक्यों में अज्ञात अंश को रेखांकित करके दिखाया गया है। यही इन वाक्यों का मुख्य कथ्य है। अज्ञात अंश की अभिव्यक्ति ही वाक्य का संप्रेषणात्मक प्रकार्य है।

१०. कोष्ठक में उस ढाँचे का संकेत है जिसका परिवर्तित रूप यहाँ दिया गया है।

११. यहाँ पर उपरिगामी तीर (↑) के द्वारा ऊँची तान का संकेत किया गया है।

संदर्भ सामग्री

इसाचेन्को, अ. व. : १९५४, रूसी भाषा की संरचना का स्लोवाक भाषा के साथ व्यतिरेकी अध्ययन, रूपरचना, भाग–१, स्लोवाक विज्ञान अकादमी प्रकाशन गृह, ब्रातिस्लावा, (रूसी में)

गुरू, कामताप्रसाद : (संवत्) २०१९, हिन्दी व्याकरण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

पाँडे, हेमचन्द्र : १९८४, "'होना' क्रिया का अस्तित्वबोधक अर्थ"; परामर्श (हिन्दी), वर्ष ५, अंक ४, पृ. ४०१–४०६.

पाँडे, हेमचन्द्र : (प्रकाशनाधीन) "स्वामित्व, संबद्धता के प्रकार और सत्ता", ल्युबोमिर दचुरोविच अभिनन्दन ग्रन्थ, वियेनेर स्लाविश्विशेर अल्मानाख, वियेना (रूसी में)

विश्वजीत : १९७१, "हिन्दी में 'होना' क्रिया की वाक्यरचना" भारतीय साहित्य (आगरा), वर्ष १६, अंक १–२, पृ. ६७–८८.

सिंह, सूरजभान : १९८५, हिन्दी का वाक्यात्मक व्याकरण, साहित्य सहकार, दिल्ली.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दतत्त्वचिन्तन में क्रियाविवर्त एवं कालशक्ति

भामह ने शब्द तथा अर्थ के मार्ग को दुस्तर बताते हुए प्रकारान्तर से जो प्रश्न उपस्थित किया है उसके उत्तर में दार्शनिक प्रस्थान मतभेद रखते हुए भी इस तथ्य में एकमत हैं कि उच्चारण स्थानों में उत्पत्ति या अभिव्यक्ति पाने वाले वर्णात्मक शब्द अपने उच्चारित रूप से अनित्य एवं क्षणिक होते हैं। उच्चारण को क्रियारूप मानने पर कालशक्ति को स्वतः मानना पड़ता है। यास्क ने क्रिया-समूहरूप भाव को छह भाव विकारों में विभक्त किया है–जन्म, स्थिति, वृद्धि विपरिणाम, क्षय एवं नाश। सभी मूर्त पदार्थों में ये क्षणिक विकार होते रहते हैं जो क्रिया रूप हैं। ऐसी स्थिति में मूर्ति या द्रव्य विकारी होने से क्रिया सापेक्ष है और द्रव्य के बिना निराश्रय क्रिया अकल्पनीय है। दोनों का अधिष्ठान एक ऐसे तत्त्व को होना चाहिये जिस में दोनों रूप लेने की शक्ति हो और यह रूपग्रहण की प्रवृत्ति तात्त्विक विकार न होकर प्रतिभासरूप विवर्त ही होना चाहिए। "एक वस्तु जो अपने शरीर से च्युत हुए बिना भेदप्रतिभासपूर्वक असत्य एवं विभक्त अन्यरूपता ग्रहण करती है, वह स्वप्न प्रतिभास के समान, विवर्त है"[1]। विवर्त ग्रहण करने वाला यह अधिष्ठान तत्त्व निर्विकार होने तथा विविधतारूप बृंहण प्राप्त करने से अमृत एवं ब्रह्म कहा गया है, उस की शक्ति अविद्या है, वह स्वरूपतः निष्कलुष होते हुए भी अविद्या से कलुष–सा हो कर भेदरूप विवर्त लेता है।[2] यहाँ अविद्याशक्ति अपरा प्रकृति तथा ब्रह्म परा प्रकृति है। विकार (विवर्त) को निरस्त करने पर जिस प्रकार कुण्डल में सुवर्ण ही सत्य है; उसी प्रकार विकार-रहित अवस्था में जो सत्य है वही परा प्रकृति है।[3] यह सत्य ही ब्रह्म एवं शब्द तत्त्व है – – – वह शब्द का उपग्राहक तथा शब्द से ही उपग्राह्य होने के कारण शब्द तत्त्व कहा गया है।[4] इस प्रकार सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्च शब्दतत्त्व का परिणाम है क्योंकि आम्नाय के अनुसार वेदों से ही विश्व विवर्तपूर्वक बना है।[5] आम्नाय

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ११, अंक १, दिसम्बर, १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से श्रुति अर्थ लेना चाहिये। तदनुसार शब्दव्याहारपूर्वक विधाता ने पदार्थ की रचना की है।

मूल कारण को अद्वय तत्त्व मानने वाला व्याकरणदर्शन मूर्ति या द्रव्य एवं क्रिया को ब्रह्म का विवर्त तथा अविद्याशक्ति की प्रवृत्ति मानता है। दोनों ही विद्यास्वरूप ब्रह्म में तत्त्व या अतत्त्व नहीं कहे जा सकते—यही अविद्या की अनिवार्यता है।[६] ब्रह्म एक है, अतः स्वरूपतः अग्राह्य है, परन्तु स्वविवर्त रूप नामरूपात्मक विरोधी शक्तियों से वह कथंचित् ग्राह्य बनता है, उसमें सभी रूप विभाग असत्य हैं, अतः भोक्ता, भोग्य एवं भोग अथवा द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन आदि ग्रन्थिविवर्त हैं जिन्हें सत् या असत् से निरुक्त नहीं किया जा सकता। यह वैसा ही है जैसे स्वप्न द्रष्टा पुरुष बाह्य तत्त्वों के बिना ही ज्ञाता, ज्ञेय अथवा ज्ञान के मिथ्या आधार लेता है। जिस ग्रन्थि की विवर्तनक्रिया जिस काल में होती है उस काल में अन्य ग्रन्थियों से व्यावृत उसी ग्रन्थि का परिच्छेद होता है और इस प्रकार लोक में होनेवाली अनेकधा व्यवहार—व्यवस्था में उस ब्रह्म तत्त्व का ही परिच्छेद हो जाता है।[७]

क्रिया (विवर्त) :—

ऊपर के विवरण से जान पड़ता है कि क्रिया ब्रह्म का असत्य विवर्त एवं शक्ति की प्रवृत्ति है। निरुक्तकार ने (।/।/।) क्रियासमूह को भाव बताते हुए उसमें आरम्भ से फलनिष्पत्ति पूर्वापर का क्रम माना है और दुर्गाचार्य ने स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रथम क्रिया के बिना उत्तरोत्तर क्रियाएं असंभव हैं। इस प्रकार क्रिया यदि कुछ है तो उसे क्षणिक ही मानना चाहिये। क्षणसमूहों में क्षणशः उत्पादनाशशील क्रियाओं का समूह भी क्या होगा? अत एव महाभाष्यकार ने कहा है कि क्रिया अत्यंत अप्रत्यक्ष है जिसे एकीभूत समूह के रूप में दिखाया या समझाया नहीं जा सकता है।[८] जिस प्रकार कमलनाल के तन्तु जलाये जायें तो समूह में पृथक्—पृथक् तन्तुओं का दाह जाना नहीं जा सकता उसी प्रकार क्षणिक क्रिया का प्रत्येकशः ज्ञान असम्भव है परन्तु प्रमाणवादी क्रिया का अस्तित्व मान्य करते हैं कि सूक्ष्म पदार्थ की अवगति अनुमान से होती है।[९] वस्तुतः क्रिया का अस्तित्व अलातचक्रवत् प्रतिभासमात्र है और अनुमान से उसका अनस्तित्व ही फलित होता है।[१०] एक क्षण में कोई गति नहीं बनती और पूर्वापर क्षणों के अतीत तथा अनागत की गति वर्तमान काल में अस्तित्व नहीं रखती। वर्तमान के बिना अतीत या अनागत का व्यवहार कैसे चलेगा? भाषा में त्रिकाल की व्यवस्था निराधार भ्रम है। न चक्र चलता है न बाण गिराया जाता है और न ही नदियां सागर को जाती हैं। प्रतिक्षण स्थिति ही रहती है, अतः सारा लोक स्थिर है जिस में चेष्टा नहीं है। यह अवधारणा अन्धे की नहीं है क्योंकि काक के उड़ने की व्याख्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असंभव है—जब वह अतीत तथा अनागत में नहीं उड़ता तब वर्तमान क्षण का कोई उड़ना नहीं हो सकता क्योंकि तब मानना होगा कि सारा लोक उडता है और हिमालय भी चलता है। तीनों कालों में जब गति असंभव है तब वर्तमान काल की गति का व्यवहार क्यों होता है ?[11]

यह मूल प्रश्न है कि क्रिया की परिभाषा कैसे की जाय ? क्रमरूपता ही क्रिया है और क्रमापतित अवयवरूप क्रिया स्थितिमात्र है, अतः गति की व्याख्या असंभव ठहरती है। पूर्वदेश विभागपूर्वक–उत्तरदेश संयोग को गति कहते हैं परंतु ये दो क्षण यदि असंपृक्त लिये जायें तो स्थिर द्रव्य हाथ लगता है और विविक्त संयोग–विभाग का संपर्क असंभव है। अतएव न्यायमनीषी भासर्वज्ञ ने संयोग विभाग से व्यतिरिक्त क्रिया की पदार्थता अमान्य की है। भाषा – व्यवहार की दृष्टि से भगवान् फलजीत ने फल की साध्यता के अधीन त्रिधा काल की व्यवस्था देते हुए स्पष्ट किया है।—(१) जिस में किसी फल की सिद्धि हो चुकती है वह भूत-काल, (२) फल सिद्धि के बिना उपक्रम चलता रहे तो वर्तमानकाल, और (३) शब्द व्यवहार काल के उत्तर–काल में उपक्रम होने वाला हो तो भविष्यकाल कहा जाता है।[12] तात्पर्यतः, फल की सिद्धि या असिद्धि में वस्तु की वह साध्यावस्था क्रिया है जिस में क्रम का आश्रय पाया जाय।[13] भाषानुसार कारकीय प्रवृत्ति-विशेष का नाम क्रिया है।[14]

तो क्या कारकद्रव्य ही क्रमरूपता लेकर क्रिया व्यवहार के भागी बनते हैं ? तब काल–भेद की क्या व्याख्या हो सकती है ? कालक्रम में क्रिया से भिन्न कारक भी क्या होंगे ? तब क्रियाजनकत्वरूप कारकत्व भी प्रतिभासमात्र है। कारक द्रव्य है जो कालभेद में क्रियाश्रयता का आभास देता है, अतः किसी एक ही सत्ता या ब्रह्म के विवर्त ही क्रिया एवं कारकादि नामों से व्यवहृत होते हैं।[15] एकही पदार्थ जब 'ध्वनि' कहा जाता है तब क्रमप्रतीति के निवृत्त रहने से द्रव्य नाम दिया जाता है, परंतु 'ध्वनित' कहने पर क्रमप्रवृत्ति के अधीन उसे क्रिया कहा जाता है।[16] परंतु जब क्षणों का प्रत्येकशः प्रत्यक्ष असंभव है तब क्रिया किसे कहा जाय ? अनुमान भी प्रत्यक्षाधीन रहता है, अतः उसे भी प्रमाणपदवी नहीं मिल पाती। ऐसी स्थिती में क्रिया का व्यवहार ही असंगत है क्योंकि प्रतिभास भी निराधार नहीं पाया जाता। इस अनुपपत्ति में यही समाधान हो सकता है कि किसी अवयवी संघात में गुणरूप से घटक अवयव होते हैं। क्रिया भी समूहरूप में ज्ञेय बनती है। क्रमशः जायमान क्रियाक्षणों का समूह जब बुद्धि द्वारा कल्पित अभेद से लिया जाता है तब व्यवहार में 'क्रिया' नाम दिया जाता है। वह समूह प्रत्येक अवयव में परिव्याप्त रह कर कालभेद का कारण बनता है। जिस प्रकार समस्त गवाकार एक साथ नहीं देखा जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किन्तु भागशः प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि में समस्त गोपिण्ड का स्वरूप प्रत्यक्ष माना जाता है, उसी प्रकार क्रियासमूह के अतीतानागत भाग असत् रहते हैं और वर्तमान (सत्) क्षणरूप होने से इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं बना पाते, परन्तु बुद्धि में सदसत् उभयात्मक अंशों का सन्निधान होने से क्रिया के प्रत्यक्ष का व्यवहार पाया जाता है। वस्तुतः इन्द्रियों का सम्बन्ध वर्तमान वस्तु से ही बनता है किन्तु क्रियावयव क्रमिक होने के कारण प्रत्यक्ष के योग्य इन्द्रिय सम्बन्ध नहीं बना पाते, अतः बुद्धिस्थ कल्पना के अतिरिक्त क्रियासमूह भी यथार्थ नहीं है।[१७]

जिसे एक क्रिया कहा जाता है उसके असंख्येय भाग होते हैं। परमाणुसदृश किसी भाग को क्रिया नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस में क्रमरूपता नहीं है। उदाहरणार्थ, पचनक्रिया के घटक जलसेचन इत्यादि हैं और उन घटकों के भी घटक होते हैं। जो दुरवगम अंश होगा उस के लिए 'क्रिया' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। अतः उस एक भाग को पूर्वापर भागों के साथ ले कर बुद्धि में क्रम स्थापित कर के असत् के अध्यास से क्रिया को आख्यातवाच्य बनाया जाता है।[१८] हेलाराज ने स्पष्ट किया है कि क्षणों का पूर्वापरभाव या क्रम असंभव है क्योंकि वे परस्पर नितान्त भिन्न हैं। प्रथम क्षण ही अपरक्षण नहीं बनता कि क्षण में क्रम स्थापित हो सके। अतः अवयवों में समुदाय के अध्यास या अध्यारोप से मिथ्या अभेद मान कर क्रम स्थापित किया जाता है। तात्पर्य यह कि असत् भाग (अतीत हो कर) निवृत्त होता चलता है और सत् की उपलब्धि होती जाती है। सत् तथा असत् का स्वरूप एक सा गृहीत हो चलता है और इसी को क्रिया कहते हैं।[१९]

यहां पुनः प्रश्न आता है कि जब एक क्षण इन्द्रियगोचर नहीं है और अतीतानागत भी अप्रत्यक्ष हैं तब अध्यास किस का और किस में होगा। शुक्ति होती है, अतः रजत का अध्यस्त ज्ञान संभाव्य है परंतु यहां अधिष्ठान क्या है जिस में अध्यस्त क्रिया की कल्पना की जाय? विवर्त ही इस प्रश्न का उत्तर है। तत्त्व सर्वरूप होते हुए स्वरूप से अविच्युत रहता है एवं निष्क्रिय है परंतु उस में क्रमरूपता की प्रतीति तथा भागकल्पना (सक्रियवत् प्रकाशन) क्रिया है।[२०]

कुछ मीमांसक उक्त मत के विपरीत यह मानते हैं कि क्रिया किसी के आश्रित नहीं है प्रत्युत सभी कारकों द्वारा एक फल के निष्पादन में वह अविनश्वर प्रवृत्ति है।[२१] क्रियानित्यतावाद उस की क्रमरूपता की व्याख्या इस प्रकार कर सकता है कि नित्य क्रिया कारकों की अनित्य कार्यकारिता में क्रमरूपता का भास दे चलती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस मत के अनुसार क्रिया सर्वथा स्वतन्त्र प्रवाह है जिसका कोई आधार नहीं है। जिस फल की निष्पत्ति में जितने द्रव्य कारक बनते हैं उन की प्रवृत्ति बन कर वह आती है और क्षणशः क्रमरूपता लेती है परन्तु स्वरूपतः वह नित्य है। अनुपपत्ति यथावत् है क्योंकि क्रमरूपता से पृथक् क्रिया का कोई प्रमाण नहीं है और उक्त रीति से क्रम प्रतिभासमात्र है क्योंकि उत्पादनाशशील भागों का क्रम असंभव है।

ऐसी स्थिति में सत्तारूप ब्रह्म के अद्वय स्वरूप में विवर्त के अतिरिक्त न क्रिया व्याख्या पा सकती है और न द्रव्य उसका आधार हो पाता है। सत्ता ही महाजाति है जो यास्कोक्त भावविकारों में छह अवस्थाएं लेती है—जन्म, वृद्धि, अस्ति, विपरिणाम, क्षय एवं नाश। ये छहों विकार क्रियारूप हैं जो सत्ताब्रह्म में उस की अविद्याशक्ति से भासित होते हैं। अविद्या के कालादि शक्तिभेद हैं और वे सभी ब्रह्म की शक्तियां हैं जिन से वह अद्वैत तत्त्व है, विविधता में प्रतिभासित होता है। उस से भिन्न किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है।[२२] सत्ता ही अपनी शक्ति के योग से सर्वरूप बनती है। साध्यरूप क्रिया एवं तज्जन्य फल, कारकरूप क्रियाजनक तथा फलभोक्ता पुरुष सत्ता के ही रूप हैं।[२३]

क्रिया एवं काल

न्यायवैशेषिक के अनुसार काल विभु, एक एवं नित्य द्रव्य है जो सर्वाधार होते हुए सभी कार्यों का निमित्तकारण भी है। मीमांसक भी प्रायः यही मान्य करते हैं। सांख्यों ने प्रकृति के परिणामों से पृथक् काल एवं क्रिया की गणना अमान्य की है। पाणिनि भगवान् ने लोकव्यवहार सिद्ध होने से काल को परिभाषणीय नहीं माना है।[२४] महाभाष्य में कहा गया है कि जिस से मूर्तियों (मूर्तद्रव्यों) में अपचय लक्षित होते हैं उसे 'काल' कहा जाता है। किसी क्रिया से युक्त काल के ही दिनरात तथा मास–वर्ष आदि रूप बनते हैं। काल में परिच्छेद लाने वाली यह क्रिया सूर्य की गति है।[२५]

सूर्यगति या कोई गति क्रिया है जिस से पृथक् काल का कोई स्वरूप नहीं बन पाता, अत एव महाभाष्यकार ने स्वयं ही फल एवं क्रिया के अनुसार कालभेद को व्यवस्थित माना है जिसे देखा जा चुका है। इसी अनुपपत्ति के कारण भर्तृहरि ने कहा है कि दिक्, कारक, क्रिया एवं काल के वाचक शब्द पदार्थों के शक्तिरूप में अत्यन्त अनिश्चित हैं।[२६] दो क्रियाएं फलजनक होते हुए जब अनेक द्रव्यों में समवेत रहती हैं तब किसी एक सम्बन्धी के बिना सम्बन्ध न बन पाने से क्रिया का परिच्छेद या बोध कैसे होगा? जिस एक सम्बन्धी से वह परिच्छेद हो पाता है वही 'काल' है। जिस प्रकार तुला या हाथ पर रखे हुए अनेक द्रव्यों का गुरुत्व जाना जाता है उसी प्रकार अनेक द्रव्यरूप क्रियाओं की अवगति होती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है।[२७] इस प्रकार कालरूप शक्ति में रहती हुई भी सभी क्रियाएं अन्य द्रव्यों में समवेत होकर ज्ञान में आती हैं।

काल की क्रिया–परिच्छेदक वृत्ति शाश्वत है जिस के दो प्रकार हैं—प्रतिबन्ध तथा अनुज्ञा। प्रतिबन्ध से अतीत तथा अनागत बनते हैं और अनुज्ञा से क्रिया को वर्तमानता व्यवस्थित है। इस प्रकार अपनी शक्ति से स्वयं विभक्त होता हुआ काल ही क्रमरूपता प्राप्त करता है और क्रिया पर उसी की क्रमिकता का अध्यास हो चलता है।[२८] कालक्रम क्रियाक्रम कहा जाता है। क्षणशः काल ही क्रिया में प्रतिबन्धपूर्वक अनुज्ञा लाता है और यही क्रम है। फिर भी प्रश्न उठता है कि "गच्छति" का वर्तमान में प्रयोग कैसे होगा? जिस कालखण्ड में उस का प्रयोग किया जाता है उस में प्रतिबन्ध तथा अनुज्ञा का क्रम रहेगा और अनुज्ञा वाले क्षण में कोई क्रम न होगा। पूर्वदेश विभागपूर्वक और उत्तरदेशसंयोग से गति का क्रम बनेगा; परन्तु विभाग के प्रतिबन्ध के पश्चात संयोग के क्षण में क्रम की प्रतीति न होगी। ऐसे असंख्येय संयोग–विभागों से गमनक्रिया घटित होती है जिन में कोई एक ही क्षण अनुज्ञा में आ कर वर्तमान होगा किन्तु उस में क्रम की प्रतिपत्ति न होगी और प्रतिबन्धभागी अतीतानागत अविद्यमान रहेंगे। ऐसी स्थिति में वह वर्तमानता ही परिच्छेद में न आयेगी जिस की सापेक्षता से अतीतानागत की व्यवस्था होती है। इस का समाधान देते हुए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि क्रिया की प्रवृत्ति जो प्रयोजक फल रहा करता है उसकी परिनिष्पत्ति की अपेक्षा से 'गच्छति' का वर्तमानकालिक प्रयोग करना चाहिये। इस विषय में तर्क करना निरर्थक रहता है। इस प्रकार अनिष्पन्न फल की निष्पत्ति वह सीमा है जहां वर्तमानता अन्त लेती है; फलनिष्पत्ति के हो जाने पर अतीत और फलार्थ क्रिया के अनारम्भ में भविष्यत् की व्यवस्था माननी चाहिए।[२९]

क्रियाक्रम की चर्चा ही संशयग्रस्त है। कालक्रम को क्रिया का क्रम मानना अनुपपन्न है क्योंकि जो काल-क्रम का भास देता है उस से भिन्न स्वरूपतः क्रियाक्रम अभीष्ट है अन्यथा क्रिया के काल–त्रय का व्यवहार नहीं बन सकता। इस विषय में हेलाराज ने स्पष्ट करते हुए विवृत किया है कि उस समूह में क्रमिकता मानी जाती है जिस में पूर्वापरभाव नियत हो। यद्यपि वैसा समूह कभी 'सत्' नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वापर अवयव 'असत्' या अविद्यमान रहते हैं तथापि फल पर्यन्त क्रियासमूह में क्रम अध्यारोपित या अध्यस्त हो जाता है, अतः प्रत्येक क्षण इन्द्रियसन्निकर्ष लेता जाता है और क्रमरूपता के अध्यास के साथ वर्तमान रूप में व्यवहारभागी होता है। यद्यपि क्रमहीन होने से किसी एक क्षण को तत्त्वतः क्रिया नहीं माना जा सकता तथापि पूर्वापर क्षणों का क्रम उस एक क्षण में अनुभव-वासना से निश्चित होता है, अतः उस में भी क्रियात्व मान्य बनता है।[३०]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भर्तृहरि ने कहा है कि कोई द्रव्य अपने स्वरूप में एक या अनेक तथा श्वेत या नील नहीं होता परन्तु कालिक संसर्ग से गुणयोग पा कर विविध प्रतीतियों में उतरता है। अथवा काल ही विविध द्रव्यों के संसर्ग से स्वयं गुणभेद लेता है।[११] वस्तुतः विश्वात्मा ब्रह्म ही सत्य है जिस की स्वातन्त्र्यशक्ति को 'काल' नाम दिया गया है। काल ही व्यापार या क्रिया है जो द्रव्य की प्रत्येक अवस्था में व्यवस्थित है। कालशक्ति द्वारा मूर्तियों के उपचयापचय इसी लिए लक्षित होते हैं कि सभी मूर्तियों के भेद के साथ काल द्वारा परिणाम लाया जाता है। जिस प्रकार रहट में चक्कर खाने का आदेश रहता है उसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ काल की होती चलती हैं। इस प्रकार परिवर्तनशील भावों को काल ही प्रकाशित करता है।[१२]

सारांशतः, सत्ता ही क्रमरूप ले कर क्रिया और अक्रमरूप से द्रव्य है। सत्ता ही ब्रह्म है जिसे शब्दतत्त्व भी कहा गया है। उस ब्रह्म की स्वातन्त्र्यशक्ति काल है।

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'
आचार्यकुल
कालिदास अकादेमी
उज्जैन – ४५६०१०
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्य–विभक्तान्य–रूपोपग्राहिता विवर्तः। स्वप्नविषयप्रतिभासवत्। वाक्यपदीय, स्वोपज्ञवृत्ति
२. तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते ॥, वहीं, उद्धरण
३. वाप, ३/२/१५
४. वाप, १/१, स्वोपज्ञवृत्ति
५. वाप, १/१२०
६. मूर्तिक्रियाविवर्तविद्याशक्तिप्रवृत्तिमात्रम्। तौ विद्यात्मनि तत्त्वान्यत्वाभ्यामनाख्येयौ। एतद्धि अविद्याया अविद्यात्वमिति।
वाप १/१, स्वोपज्ञवृत्ति
प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यद्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. एकस्य हि ब्रह्मणस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिरुक्ता विरोधिशक्त्युपग्राह्यसत्यरूपप्रविभागस्य स्वप्नविज्ञानपुरुषवद्बहिस्तत्त्वाः परस्परविलक्षणा भोक्तृभोक्तव्यभोगग्रन्थयो विवर्तन्ते। तस्य च ग्रन्थ्यन्तररूपसमतिक्रमेण विवृत्तग्रन्थिपरिच्छेदस्येयमनेकधा लोके व्यवहारव्यवस्था प्रकल्पते। वहीं १/४

८. मभा ३/२/१०२

९. मभा ३/२/१२३

१०. मभा ३/२/१२४, वा.– २/८

११. मभा ३/२/१२३, वा ०५

१२. (अ) मभा ३/२/१०१, वा. ४
(ब) मभा ३/२/१२३
(क) मभा ३/३/३, वा. २

१३. वाप ३/८/१

१४. क्रियालक्षणं भाष्ये प्रणीतं कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रियेति।–हेलाराज

१५. वाप ३/८/३६

१६. वाप ३/८/२

१७. वाप ३/८/४–७

१८. वाप ३/८/९–११
न क्षणानां पूर्वापरीभावः, अत्यन्तभेदात्। न हि यः पूर्वक्षणः स एव परः सम्पद्यते। – – – – अवयवेषु तु समुदायाध्यासात्। तस्य चाभेदात् पूर्वापरीभावो युज्यते। – हेलाराजा

१९. वाप ३/८/१९

२०. वाप ३/८/३४
तत्त्वादप्रच्युतस्य निष्क्रियस्य सक्रियस्येव प्रकाशनं विवर्तः।– हेलाराज

२१. वाप ३/८/३६

२२. वाप ३/८/३६
स्वाभिरेव शक्तिभिरव्यतिरिक्ताभिर्जन्मादिरूपतया अविद्यायामाभासते। तदेव ब्रह्म सर्वभावेषु समानरूपं सत्तात्मकम्; अन्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्याभावात्। – हेलाराज

२३. वाप ३/८/३६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२४. कालोपसर्जने च तुल्यम् । अन्यप्रमाणत्वात्, लोकतः सिद्धेः ।
पासू १/२/५३–५७

२५. येन मूर्तीनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुः ।
तस्यैव कयाचित् क्रियया युक्तस्याहरिति रात्रिरिति च भवति ।
किया क्रियया ? आदित्यगत्या । तयैवासकृदावृत्या मास इति संवत्सर इति च भवति । ममा २/२/५

२६. वाप ३/६/१

२७. वाप ३/९/२७–२८

२८. वाप ३/९/३०

२९. ममा ३/२/१२३

३०. नियतपौर्वापर्यः समूहस्तावत् क्रमिकः ।
तस्य च सदसद्रूपकत्वेऽपि फलावधिपरस्परमध्यस्तक्रमः सकलः सन्निहित एकैकोऽपि क्षणो वर्तमानतामनुभवति । यद्यपि च नासावेकः क्रमिक इति न क्रिया तथाप्यपरक्षणगतः क्रमस्तत्रानुभववासनया निश्चीयत एवेति । हेलाराज, वाप ३/९/८९

३१. वाप ३/४/७

३२. वाप ३/९/१२–१४
विश्वात्मैक एव परब्रह्माभिधानः सत्यो भावः । स एव
नानाविधिकार्यकारितयानन्तशक्तित्वेन व्यवह्रियते ।
तथा च क्रमिकांश्चक्रभ्रमवत् परावर्तमानान् भावान् प्रकाशयन् कालयति भूतानीति काल इत्युच्यते । स विभुः स्वतन्त्रः । अत एव स्वातन्त्र्यशक्तिः कालः । —हेलाराज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय लोक-नाट्य परम्परा

नाट्य वेद को पंचम वेद की संज्ञा दी गई है। इसका सृजन सभी वर्गों के लोगों का समान रूप से मनोरंजन करने के लिए हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे संस्कृत नाटकों का रंगमंच जनसाधारण से दूर होता गया। देवालयों और राजसभाओं में मनोरंजन और उपदेश के लिए उनका अभिनय होने लगा था। उनमें जनसाधारण का आह्वान न होकर राजकीय वर्ग का ही आह्वान होता था तथा प्रायः संस्कृत नाटककार भी राजकवि ही हुआ करते थे। अतः साधारण जनता को अपने मनोरंजन के लिए लोकनाट्य का आश्रय लेना पड़ता था। लोकनाट्य हमारी नाट्य परम्परा की एक मूल-भूत कडी है, क्यों कि वह कई प्रकारों और रूपों में संस्कृत नाटक के बाद मध्यकालीन नाट्य परम्परा का ही निरन्तरण है।[१] लोकनाट्य में संस्कृत नाटकों से कई दृष्टियों से अधिक विविधता के दर्शन होते हैं। और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि लोकनाट्य आज भी जीवित है। भारत जैसे कृषि-सभ्यता-प्रधान देश में यह तो अनिवार्य है कि हमारी सृजनात्मक गतिविधि के बहुत से अंगों के सूत्र लोक जीवन में है और इसका प्रभाव जाने अनजाने हमारे चिन्तन संस्कार और कार्यों पर पड़ता है। विशेष रूप से हमारी सांस्कृतिक परम्परा का एक बड़ा भारी अंश लोक संस्कृति से सम्बद्ध है।[२] भारत में रंगमंच और नाट्य-साहित्य के विकास की परिस्थितियों के कारण लोक-रंगमंच और लोकनाट्य का हमारी नाट्य परम्परा में स्थान सर्वथा अभूतपूर्व है। संस्कृत साहित्य और नाटक का युग भारतवर्ष का स्वर्ण-युग था। उस काल में नाट्य साहित्य अपनी चरम सीमा पर था; परन्तु उसके बाद सामाजिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों के बदलने के साथ ही रंगमंच ने अचानक मोड़ लिया और वह साहित्य कला की विकसित धारा से हट कर, नागरिक जीवन और शिक्षित कला प्रेमी दर्शक वर्ग तथा संरक्षकों से कट कर, लोक जीवन तथा देहातों में सीमित होकर रह गया।

भारतवर्ष में लोकनाट्य की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत मुनि से अपने नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में लोकधर्मी नाट्य परम्परा का उल्लेख

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ११, अंक १; दिसम्बर १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया है। पतंजलि ने (१४० ई. पू.) तीन प्रकार के लोकनाट्यों की सूचना दी है:—(क) शोभिका (मौन नाट्य), (ख) चैत्रिका, (ग) ग्रन्थिका। दक्षिणी लोकनाट्य कथकली का प्रयोगात्मक रूप ईसा की दूसरी शती में विद्यमान था।[३] महाराष्ट्रीय लोकनाट्य 'गोंधल' चौथी शती में प्रचलित था। इस में भाव के सदृश एक ही अभिनेता अभिनय करता था।[४] दशम शताब्दी में त्रैविक्रम नाटक चैत्रिका की शैली पर लिखा मिलता है।[५] मलाबार का प्रख्यात लोकनाट्य "कुतु" एक सहस्त्र वर्ष पुराना है।[६] नाट्याचार्य शारदातनय ने उपरूपकों का विभाजन तत्कालीन लोकनाट्य प्रणालियों के आधार पर ही बताया है। शारदातनय उन्हें नृत्य-भेद कहते हैं। 'भावप्रकाशन" के नवम अधिकार में रासक, नाट्यरासक आदि को लोकनाट्य ही माना गया है। उपरूपकों के लिखित उदाहरणों की न्यूनता भी इन्हें लोकनाट्य सिद्ध करती है। श्रीमद्-भागवत में कृष्ण की रास-लीला का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती में तेलगू कवि सोमनाथ की रचना पंडिताराध्य चरित्र में तत्कालिन कई लोकनाट्यों के अभिनय का विवरण प्राप्त है। पुतलो नाट्य, वीथि नाटक आदि का वर्णन इसमें मिलता है।[७] अब हम अपने देश की कला सम्पदा के प्रति जागरूक हो उठे हैं, तथा देश के प्राचीन महत्त्वपूर्ण कलारूपों के पुनरुद्धार के लिए लोकनाट्य का अध्ययन मनन करना परमावश्यक है। आज हमारे लिए अनिवार्य हो गया है कि हम सदियों से प्रतिष्ठित और सक्रिय सांस्कृतिक तत्त्वों को सहेज कर रखें, तथा उनका रक्षण तथा विकास करें। यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हमारी सांस्कृतिक सम्पदा का बहुत सा अंश लम्बे समय तक उपेक्षित तथा तिरस्कृत होने के कारण आज छिन्न-भिन्न स्थिति में है और उसमें सामाजिक आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप ऐसे परिवर्तन होते रहे हैं जो विकास की गति को अवरुद्ध करते रहे हैं।

पिछले युग में हमारी लोककला के बहुत से रूप तरह तरह की विकृतियों के शिकार हो गए हैं। फिल्मों तथा शहरी जीवन का लोककशा को नष्ट करने में बड़ा हात रहा है। लोककला में विद्यमान स्वच्छन्दता, कला, सरलता तथा सुरुचि का स्थान कुरूपता, नग्नता, उत्तेजकता आदि ने ले लिया है। आज समाज, राज्यों, राष्ट्र का यह प्रमुख कर्तव्य बनता है कि अपनी प्राचीन कला को जीवित रखने के लिये अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें। इस दिला में सरकार कार्य कर रही है कि अन्य कलाओं की रक्षा के साथ साथ लोकनाट्य को भी संरक्षण मिलना चाहिए। किन्तु इसमें एक समस्या सामने आती है। क्यों कि जीवन्त मानवीय माध्यम द्वारा अभिव्यक्त कला के संरक्षण की समस्याऐं अन्य कलाओं के संरक्षण से सर्वथा तथा अत्यधिक जटिल होती है। इसलिए लोकनाट्य के पुनरुद्धार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा रक्षा के प्रश्न पर गम्भीरता–पूर्वक मनन करने के उपरान्त ही कोई उपाय खोजा जा सकता है।

लोकनाट्य के आधुनिक सर्जन–शील रंगकार्य के सम्बन्ध में तीन स्तर हो सकते हैं। एक, अपने देश की तथा प्रत्येक भाषा की मध्यकालीन नाट्य परम्परा को समझने और उसके आज के रंग–कार्य में सृजनशील उपयोग के लिए; दो, अपने में महत्त्वपूर्ण, सशक्त तथा प्रभावी नाट्य–पद्धति के रूप में उसकी आधुनिक प्रतिष्ठा के लिए, और तीन, एक ऐतिहासिक महत्त्व की सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के लिए[८]। ये तीनों ही स्तर निर्विवाद रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

भारत एक विशाल देश है। अतः इसके विभिन्न प्रदेशों में लोक–नाट्य का स्वरूप भी भिन्न–भिन्न प्रकारों में पल्लवित हुआ। हम लोकनाट्य के कई प्रकार जैसे–यात्रा, नौटंकी, ख्याल, भवई, नाच, तमाशा, दशावतार, यक्षगान, अंकिया नाट, रास–लीला तथा राम–लीला आदि विभिन्न स्तर पाते हैं। इसमें एक ओर यात्रा जैसे अत्यन्त सुगठित और सशक्त प्रकार है। ये आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित और समृद्ध होते रहे हैं। दूसरी ओर जो राम–लीला जैसे प्रकार हैं जिनमें नाटकीयता बहुत क्षीण है और सामाजिक धार्मिक समारोह या मेलों तथा चौकियों या झाँकियों के जुलूस मात्र रह गए हैं।[९] किन्तु इन सब असमानताओं तथा नाटकीयता के विभिन्न स्तरों के होते हुए भी उनमें कुछ ऐसी समानताएं हैं जो उन्हें एक सूत्र में बांधती हैं और सम्मिलित रूप में उन्हें एक व्यक्तित्व भी प्रदान करती हैं तथा उन्हें प्राचीन परम्परा से जोडती हैं।

कथानक की दृष्टि से सभी लोकनाट्य रूपों में मुख्यतः पौराणिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक कथानक को ही लिया गया। तथा वे अपने अपने प्रदेश की सामाजिक परिस्थितियों से भी प्रभावित तथा संबंधित हैं। साधारणतया लोक रंग–मंच पर खेले जाने वाले नाटक रामायण, महाभारत और भागवत तथा अन्य पुराणों के विभिन्न प्रसंगों और कथाओं को लेकर रचे गये हैं। वे इस देश की जन समाज की समान संस्कारगत धारणाओं, मान्यताओं और विश्वासों व रूढियों से पूर्णतः सम्बन्धित हैं, उनमें नवीनता पर बल नहीं दिया गया बल्कि सुपरिचित प्रसंगों को बार बार प्रस्तुत करके सामान्य सामूहिक अनुभूति को जगाने का प्रयास उनके द्वारा किया गया है।

इन नाटकों में संस्कृत-नाटकों का बहुत कुछ अनुकरण किया गया है। संस्कृत नाटकों की कथागत, रचनागत, तथा रूपगत रूढ़ियों को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। पात्रों की परिकल्पना उनकी चारित्रिक विशेषताएँ आदि भी संस्कृत नाटकों की भाँति की गई हैं। विदूषक, नांदी, पाठ, भरत-वाक्य का प्रयोग भी मिलता है। इनमें सूत्रधार भी होता है, जो नाटक के घटना-सूत्र को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जोड़ता चलता है। रंग-रचना की दृष्टि से भी बहुत सी बातें संस्कृत-नाटकों से ली गई हैं. जैसे–सभी नाटक खुले रंगमंच पर होते हैं, जिसमें तीन या चार ओर दर्शक बैठते हैं, मंच पर पर्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। दृश्य-योजना नहीं होती और बहुत से उपकरणों का भी प्रयोग नहीं किया जाता। स्थानपरिवर्तन दिखाने के लिए पात्र द्वारा एक ओर से दूसरी ओर जाकर या गोल चक्कर काट कर दिखा दिया जाता है। काल-परिवर्तन की सूचना सूत्रधार के द्वारा दे दी जाती है। स्त्री–पात्रों का अभिनय पुरुष-पात्रों से ही करवा लिया जाता है। सभी पात्र रंगमंच पर ही बैठे रहते हैं और अपनी बारी आने पर वहीं से उठकर अभिनय करते हैं। तथा शेष समय आपस में बातें करते रहते हैं।

संस्कृत नाटकों तथा लोकनाट्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण समान विशेषता है उनका नृत्य और संगीत का प्रयोग। संगीत और नृत्य का प्रयोग संस्कृत नाट्य परम्परा का विस्तार तो है ही किन्तु साथ ही इसका प्रयोग नाट्य को साधारण जनवर्ग में अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए भी किया गया है। "संगीत और नृत्य जहाँ एक ओर नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं, वहीं वे नाटक की कथावस्तु और रचना की शिथिलता को ढँकने के साधन भी हैं।"[१०]

इस प्रकार लोकनाट्यों की यह परम्परा बहुत प्राचीन ठहरती है। यह संस्कृत नाटकों के समानान्तर चलती हुई अपभ्रंश भाषाओं के अनन्तर आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा हिन्दी का विकास होने पर प्रत्येक भाषा की जनरुचि और परिस्थितियों के अनुरूप विकसित होती हुई अबाध गति से आज भी पल्लवित हो रही है। "लोक मंच से सम्बन्धित कठपुतली, नृत्य और स्वांग सबसे प्राचीन लोकनाट्य है। कुठपुतली, नृत्य का प्रसार तो सम्पूर्ण भारत में रहा है लेकिन मराठी और हिन्दी क्षेत्र में इसे विशिष्ट लोकप्रियता प्राप्त हुई। स्वांग उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, तथा बिहार में प्रचलित रहे हैं। बंगाल की यात्राओं का प्रारम्भ जयदेव के गीत गोविन्द से माना जाता है। मराठी में तमाशे तेरहवीं शती से पूर्व ही होने लगे थे। गोंधळ, ललित और दशावतार मराठी क्षेत्र की जनता के मनोरंजन के अन्य साधन थे। गुजराती भवाई का प्रारम्भ चौदहवीं शताब्दी में हुआ। गुजराती और राजस्थानी हिन्दी के रास तेरहवीं शताब्दी की देन है। मैथिल के कीर्तिनिया नाटक और ब्रज भाषा की रासलीला सोलहवीं शती में विकसित हुई। उत्तर प्रदेश तथा आसपास के हिन्दी क्षेत्रों में स्वांग, भगत, सांगीत और नौटंकी, ख्याल भांड और विदेशिया भी लोकप्रिय रहे।"[११]

ये लोकनाट्य संस्कृत के आभिजात्य वर्गीय नौटंकी से पृथक् लोकप्रिय जननाट्य थे, इनके द्वारा तत्कालीन जन साधारण अपना मनोरंजन करता था। इन लोकनाट्यों की भाषा तात्कालिक थी तथा ये सरल तथा अकृत्रिम रूप में अभिव्यंजित होते थे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्ण्य विषय की दृष्टि से ये लोकनाट्य दो प्रकार के होते हैं – (१) लौकिक और (२) पौराणिक। कठपुतली, स्वांग, तमाशा, भवाई, ख्याल; विदेशिया आदि को लौकिक नाट्य के अन्तर्गत रखा जाता है, तथा यात्रा; लळित, रासलीला, रामलीला, आदि पौराणिक नाट्य के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु यह वर्गीकरण अन्तिम और अपरिवर्तनशील नहीं है।

यात्रा बंगला में, तमाशा, गोंधळ, लळित आदि मराठी से, भवाई गुजराती से और शेष लोकनाट्य मुख्यतया हिन्दी से सम्बन्धित है। बंगाल से लेकर समस्त उत्तरी भारत में इस लोक मंच ने अपने विविध स्वरूपों में जनमानस को आन्दोलित एवं आल्हादित किया, किन्तु काल क्रम से उनमें अश्लीलता और विकृति उत्पन्न हो जाने से उनका पतन प्रारम्भ हो गया। यात्रा, तमाशा, भवाई; नौटंकी भांड आदि में विकृति आ जाने से सामाजिकों के बीच उनकी लोकप्रियता घटने लगी, यद्यपि उनके पुनरुद्धार और परिमार्जन की चेष्टा इधर के कुछ वर्षों में प्रारम्भ हो गई है और सुसंस्कृत रूप में उन्हें अब रंगशालाओं में प्रस्तुत किया जाने लगा है। इन लोकनाट्यों का तेरहवीं शती इससे कुछ पूर्व से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक जनमानस पर एक छत्र राज्य रहा है।[१२]

लोकनाट्य के उस स्वस्थ और सजीव अंश का पुनरुद्धार और नवसंस्कार करना आवश्यक है जो सर्जनशीलता तथा मानव मूल्यों के मूल सिद्धान्तों से मूलरूप में जुड़ा हुआ है। सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और संस्कार के द्वारा उसे पहचान कर ही हम न केवल उस परम्परा को आगे बढ़ा सकते हैं बल्कि अपने युग के सृजन कार्य को भी एक महत्त्वपूर्ण आयाम और गहराई दे सकते हैं।[१३]

आज आवश्यकता है रंगमंच को प्रगतिशील और उन्नत बनाने की। इस सदर्भ में हमें लोकनाट्य की ओर उन्मुख होना पड़ेगा, तथा उसके प्रति स्वस्थ और दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा। तभी हम अपने देश की लोकनाट्य परम्परा को सार्थक तथा महत्त्वपूर्ण बनाने में सफल हो सकेंगे।

हिन्दी विभाग
दयालबाग एज्युकेलनल इन्स्टिटयूट
दयालबाग
आगरा–२८२००५.
(उ. प्र.)

स्वामी प्यारी कौड़ा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन : लोकनाट्य, पृष्ठ–८०
२. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन : लोकनाट्य, पृष्ठ–८०
३. एच्. एन. दास; इण्डियन स्टेज, ग्रन्थ पृष्ठ–२३६
४. कुलकर्णी; संस्कृत ड्रामा एण्ड ड्रामाटिक्स–१९२७–पृष्ठ–१३
५. एम्. कृष्णम्माचारियर; हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर
६. के. आर. पिशरौती; थियेटर ऑफ दी हिन्दूज, प्रथम संस्करण– पृष्ठ–१३
७. राजगोपालन्; 'तेलगू का नाटक–साहित्य' – संदेश, जुलाई – अगस्त १९५५ पृष्ठ–३१
८. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–८४–८५
९. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–८५
१०. नेमीचन्द्र जैन; रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–८७
११. डा. अज्ञात; भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि और विकास. पृष्ठ ११०.
१२. वही, पृ. ११६.
१३. नेमीचन्द्र जैन : रंगदर्शन, लोकनाट्य पृष्ठ–९३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साधारण-बोध तथा जी. ई. मूर

दार्शनिक गवेषणा में साधारण बोध का कार्य विवादास्पद रहा है। जब दर्शन शास्त्र के पितामह थेलीज ने जल को तथा हेरेक्लाइटस ने अग्नि को परम तत्त्व माना तब वे साधारण बोध के मार्ग से हट गए थे। पारमेनाइडीज् ने उन तमाम विश्वासों को हेय दृष्टि से देखा जो ज्ञान के साधारण बोध के स्तर के थे। जेनो के विरोधाभास साधारण बोध पर साक्षात् आक्रमण हैं। वे किसी वस्तु को साधारण बोध के माध्यम से जानने के अन्तर्गत उत्पन्न हुई विसंगतियों को दर्शाते हैं। सॉक्रेटीज भी बहुधा अपनी व्यन्व्दात्मक पद्धति के व्दारा कुछ साधारण बोध अथवा साधारणतया स्थापित विश्वासों का खण्डन करते नजर आते हैं, जैसे जीवन मृत्यु की अपेक्षा वांछनीय है। प्लेटो ने साधारण मनुष्य तथा साधारण संसार दोनों का तिरस्कार किया और इसके स्थान पर प्रत्ययों के संसार की सत्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। अरस्तू के समय में साधारण बोध पर आधारित कुछ विश्वासों को मान्यता मिली। अरस्तू को हम साधारण बोध का प्रथम विचारक मान सकते हैं। उसने प्लेटो की संसार को दो स्तरों पर विभाजित करने के लिए आलोचना की और उस संसार की सत्यता स्थापित की जो साधारण मनुष्य को उपलब्ध था।

आधुनिक दर्शन शास्त्र के इतिहास में यह स्थिति एकदम भिन्न है। यहाँ हम अधिकांश दार्शनिकों में, किस सिद्धान्त के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क देते समय, साधा-बोध को अंतिम निर्णायक मानने की प्रवृत्ति पाते हैं। इन दार्शनकों के व्दारा विरोध सिद्धान्त प्रतिपादित लिए गए हैं. परन्तु प्रत्येक दर्शनिक अपने सिद्धान्त की स्वीकृति साधारण बोध से चाहता है। देकार्त अपनी पुस्तक डिस्कोर्स ऑन मेथड का आरम्भ साधारण बोध की प्रशंसा से करता है, 'शुभत्व सभी वस्तुओं से अधिक, समस्त मनुष्यों में समान रूप से वितरित है"[1]। देकार्त कभी कभी साधारण विश्वासों का खण्डन करने के लिए भी साधारण बोध का सहारा लेता है। यह बहुत विचित्र बात है। लॉक भी साधारण बोध में देकार्त के विश्वास को स्वीकार करता है। बर्कले विशेष रूप से साधारण

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ११, अंक १, दिसम्बर १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोध का सहारा साधारण-बोध-संसार का निषेध करने के लिए लेता है।[२]

समकालीन युग में जी ई. मूर साधारण बोध-दर्शन का सर्वाधिक सशक्त समर्थक है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य मूर के व्दारा स्वीकृत साधारण बोध के कुछ पहलू दिखना है। मूर की स्वीकृति का मूल्यांकन करने के क्रम में उन विभिन्न अर्थों का विश्लेषण करने का प्रयास किया जाएगा जिसमें 'साधारण बोध' लब्द समझा जाता है।

सामान्यतया साधारण-बोध का मतलब उन तमाम विश्वासों अथवा विश्वासों के समुदाय से लगाया जाता है जो सभी मनुष्यों के व्दारा समान रूप से सत्य समझे जाते हैं, यहाँ, तक कि वे भी उन्हें सत्य समझते हैं जो उन का खण्डन करते हैं। अपने निबंध "ए डिफेन्स ऑफ कामन सेन्स"[३] में मूर ऐसे बहुत से तर्कवाक्यों का संकेत करता है जिनके बारे में हम निश्चित रूप से जानते होते हैं। कुछ तर्क वाक्य इस प्रकार हैं: 'बहुत से मानवशरीर अस्तित्वत्वान् हैं जो मेरे शरीर के समान हैं' 'मेरा शरीर टेबुल से अमुक दूरी पर है'। मूर का कहना है कि ये तमाम तर्कवाक्य उन दार्शनिकों व्दारा भी सत्य स्वीकार किये जाते हैं जो इन का खण्डन करना चाहते हैं। कहीं पर कुछ आधारीय सत्यता अवश्य होती है जिसका खण्डन विना दार्शनिक विसंगति के नहीं किया जा सकता। दार्शनिक 'मेरा' अथवा 'हमारा' आदि शब्दों का प्रयोग अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के समय स्वतंत्रता के साथ करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे अपने अस्तित्व में तथा अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि जब इस प्रकार के निष्कर्ष तक कोई दार्शनिक पहुंचता है कि 'कोई मनुष्य निश्चित रूप से कभी यह जान नहीं सकता कि अन्य व्यक्तियों का आस्तित्व है,' तो इस प्रकार के कथनों के बेतुकेपन को मूर दिखाता है। मूर का कहना है कि ऐसा कहने का अर्थ हुआ कि 'मेरे अतिरिक्त बहुत से मनुष्यों का अस्तित्व है तथा उन में से कोई भी (मुझ समेत) अन्य मनुष्यों के अस्तित्व को कभी नहीं जानते हैं।' उपरोक्त कथन तथा इसके समान अन्य कथनों का बेतुकापन दिखलाते हुए मूर का प्रयास यह दिखलाने का है कि कोई भी दार्शनिक कभी भी साधारण बोध के इन विश्वासों पर गम्भीरता से संदेह नहीं कर सकता, यद्यपि वह ऐसा करने का अभिनय कर सकता है।

कभी-कभी साधारण बोध का अर्थ इन विश्वासों की स्वीकृति से समझा जाता है, जो साधारणतया ग्रहण किए जाते हैं, यद्यपि सार्वभौम रूप से वे ग्रहण नहीं किए जाते हैं। इस वर्ग के साधारण बोधरूप श्रद्धाओं के अन्तर्गत ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास, आत्मा की अमरता में विश्वास आदि आते हैं। इन विश्वासों को साधारण मनुष्यों के विश्वासों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मूर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन विश्वासों के प्रतिपादन में रुचि नहीं रखता। वह केवल उन्हीं विश्वासों के लिए तर्क प्रस्तुत करता है जो समस्त मनुष्यों द्वारा सत्य समझे जाते हैं, उन मनुष्यों के द्वारा भी जो उन का निषेध करते हैं तथा उन पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं।

साधारण बोध कभी-कभी ज्ञान के ऐसे स्रोत के रूप में भी समझा जाता है जिसके अनुसार कुछ प्रतिज्ञप्तियों को ग्रहण करने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। जब कुछ तर्कवाक्य निस्संदेह रूप से तथा बिना किसी मानसिक श्रम के ज्ञात होते हैं तो साधारण बोध द्वारा ज्ञात समझे जाते हैं। अतः साधारण बोध का तादात्म्य कभी कभी अन्तरानुभूति से स्थापित किया जाता है, और इस रूप में इसे प्राथमिक सत्यों का एक संकाय समझा जाता है। कुछ दार्शनिक इसे कभी कभी प्रज्ञा पर आधारित साधारण सहमति भी समझते हैं। मूर साधारण बोध के इस अर्थ से भी सहमत है। वह तर्कवाक्यों के अनेकों ऐसे उदाहरण देता है जिनके बारे में वह आश्वस्त है कि वे निश्चित रूप से जाने जाते हैं और बुद्धि के किसी अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता उन्हें जानने के लिए नहीं होती। वे साधारण सत्य हैं, साधारण रूप से ज्ञात होते हैं। परंतु यह तथ्य कि ऐसे सत्य साधारण हैं तथा साधारण तरीके से ज्ञात हैं, उन्हे सत्य होने से नहीं रोक सकता। मूर की साधारण बोध की रक्षा वास्तव में उन साधारण सत्यों की रक्षा है जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होते मगर जिनकी अपेक्षा ने ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्तियां उत्पन्न कर दी हैं। 'मैं शरीरवान् हूँ' अथवा 'मेरा शरीर उस टेबल से निश्चित दूरी पर है' अथवा इसी प्रकार के साधारण सत्यों का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित रहता है। उनकी केवल इस कारण उपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे साधारण हैं। मूर उनकी उपेक्षा करने का कोई कारण नहीं देखता। उसकी दृष्टि में उन व्यक्तियों के खण्डन के लिए किसी परिष्कृत (सॉफिस्टिकेटेड) तर्क की आवश्यकता नहीं है जो इन अपरिष्कृत साधारण सत्यों को स्वीकार नहीं करते हैं।

साधारण बोध को कभी कभी उन सत्यों के रूप में लिया जाता है जिन्हें निगमनात्मक प्रमाणों के द्वारा स्थापित तो नहीं किया जा सकता लेकिन जिनके विपरीत दृष्टिकोण अपनाने पर विचारों में बेतुकापन अवश्य आ जाता है। जेनो के विरोधाभास ऐसे साधारण बोध सत्यों की विकृतियां हैं। इस प्रकार के सत्य द्वन्द्वात्मक तर्कों द्वारा सरलता से विकृत किए जा सकते हैं; परन्तु उनका निषेध विसंगत निष्कर्ष तक पहुंचाता है। मूर साधारण बोध की रक्षा के उपक्रम में ऐसे सत्यों की रक्षा भी करता है। मूर इन सत्यों के विपरीत दृष्टिकोण में निहित विसंगतियों को भी दिखलाता है। वह ऐसे दार्शनिक कथनों के बेतुकेपन को भी दिखलाता है जैसे 'हम निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि हमारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अस्तित्व 'है' अथवा 'अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व है'। मूर का कहना है कि यदि यह सत्य है तो समस्त दार्शनिक वाद–विवादों को समाप्त हो जाना चाहिए क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि कभी किसी ने इन समस्याओं के प्रति कोई दृष्टिकोण अपनाया ही नहीं, क्योंकि कभी किसी का अस्तित्व ही नहीं था। इसका यह भी अर्थ हुआ कि चूंकि मूर के विपक्षी दार्शनिक कभी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कर सकते कि वे कभी थे, मूर उनके कथनों का सरलता से खण्डन कर सकता है। यह एक विचित्र प्रकार का निष्कर्ष है, जिसे मूर बिना किसी संश्लिष्ट तर्कणा स्वीकार किये दिखाई देता है। उसके इस उत्तर से विपक्षी दार्शनिक उत्तेजित हो सकते हैं। वे कह सकते हैं कि मूर इस समस्या के प्रति गम्भीर नहीं है। परन्तु मूर निश्चित रूप से उनका उपहास नहीं उड़ाना चाहता और वह समस्या के प्रति गम्भीर है। वह प्रत्ययवादियों तथा अन्य विरोधी दार्शनिकों को यह अनुभव करा देना चाहता है कि उनके विचार बड़े अनोखे है और साधारण बोध का विचार मूर्खतापूर्ण नहीं है।

कभी–कभी साधारण बोध का अर्थ एक विशेष प्रकार से विश्वास करने की प्रवृत्ति समझा जाता है। कभी कभी जब किसी तर्कवाक्य के पक्ष अथवा विपक्ष में निश्चित तर्क का अभाव महसूस किया जाता है और जब तक तर्क चलते रहते हैं एक अनिर्णय की स्थिति बनी रहती है। उस समय हम किसी वस्तु को एक विशेष ढंग से मापने की अपने में प्रवृत्ति पाते हैं। इच्छा–स्वान्तन्त्र्य के पक्ष अथवा विपक्ष में चाहे जितना भी तर्क दिया जाय, इसका निषेध नहीं किया जा सकता कि चाहे कुछ अंशों तक ही सही हम स्वतन्त्र हैं। अतः इच्छा–स्वान्तन्त्र्य के विषय में हमारा विश्वास इस का उदाहरण है। मूर इस अर्थ में भी साधारण बोध की रक्षा करता है। 'स्टेटस ऑफ सेन्स डाटा' नामक लेख में मूर इस समस्या का परीक्षण करता है कि क्या वस्तुएँ उस समय अस्तित्ववान् रहती हैं जब उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जाता? उसका कहना है कि "मैं विचार करता हूँ कि सम्भवतः हमारे इस सहज विश्वास में अवश्य बल है कि संवेद्य वास्तव में उस समय भी अस्तित्ववान् रहते हैं जब उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जाता"।[४]

फिर हम इस बारे में निश्चित नहीं हैं कि मूर हमारी प्रवृत्तियों को किस सीमा तक विश्वसनीय मानता है। परन्तु वह, सम्भवतः इन प्रवृत्तियों पर उन परिष्कृत तर्कों से अधिक विश्वास करता है, जो वास्तविकता से सम्बधित अतिशयोक्तिपूर्ण निष्कर्ष स्थापित करते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि मूर पियर्स की भांति आलोचनात्मक साधारण बोध–वस्तुवादी नहीं है।[५] मूर एक सीधे–सादे संसार में विश्वास करता है जो साधारण मनुष्यों तथा उन दार्शनिकों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को समान रूप से प्राप्त है जो इसे अस्वीकार करने का प्रयास करते हैं।

अपने निबन्ध 'मूर ऐन्ड आरडिनरी लैंग्वेज'[६] में नार्मन मैल्कम ने मूर की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है। मैल्कम के अनुसार मूर की साधारण बोध की रक्षा वास्तव में साधारण भाषा की रक्षा है। मैल्कम के विचार में मूर दार्शनिक विरोधाभासों को साधारण भाषा के निषेध का परिणाम मानता है। जब दार्शनिक कुछ तर्कवाक्यों को अस्वीकार करते हैं–उदाहरण के लिए "भौतिक वस्तुएं हैं," अथवा "वस्तुए हैं" तो वे यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि इन तर्कवाक्यों का अर्थ उस अर्थ से भिन्न हैं जो साधारणतया हम समझते हैं। ऐसा करने में वे दार्शनिक साधारण भाषा को अस्वीकार करते हैं। मूर की यह दिखलाने में रुचि है कि ये तथा इनके समान तर्कवाक्यों का अर्थ उस अर्थ से भिन्न नहीं है जो साधारणतया समझा जाता है। साधारण अर्थ से परे कोई परिष्कृत अर्थ नहीं है। साधारण भाषा ही उचित भाषा है। दार्शनिक के इस दावे का कि "कोई भौतिक वस्तु उस समय अस्तित्ववान् नहीं रहती जब कोई प्रत्यक्ष–कर्ता नहीं रहता," मूर यह उत्तर देगा कि आप जो कह रहे हैं वह बेतुका है क्योंकि गत रात्री ने मेरे शयन कक्ष का प्रत्यक्ष नहीं किया जहाँ मैं गहरी नींद सोया था और निश्चित रूप से यह अनस्तिवान् नहीं था।

मैल्कम यह संकेत करता है कि जब मूर इस प्रकार का उत्तर देता है तो वह आत्माश्रय दोष से बच जाता है, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस दोष की पकड़ में आ गया है। मैल्कम का विचार है कि मूर की दार्शनिक कथनों के खण्डन की तकनीक का सार इस बात में निहित है कि हम यह दिखा सकें कि दार्शनिकों के भ्रमपूर्ण कथन साधारण भाषा के कथनों के अर्थ का मिथ्या निरूपण हैं। 'हमें निश्चित रूप से भौतिक वस्तुओं से संम्बन्धित कथनों की सत्यता ज्ञात नहीं होती, ऐसे दार्शनिक कथनों के लिए मूर का उत्तर यह है कि 'हम दोनों निश्चित रूप से जानते हैं जि इस कमरे में कुर्सिया हैं'। इसके बावजूद यह कहना कितना बेतुका लगेगा कि हम यह जानते नहीं और तो भी विश्वास करते हैं कि सम्भवत: ऐसा नहीं है–साथ साथ यह कहना भी कितना बेतुका लगेगा कि इस कमरे में कुर्सिया हैं यह सम्भावना है, निश्चित सत्य नहीं है।

अब मैल्कम इस पर विचार करते हैं कि उपरोक्त अथवा इनके समान कथनों के सम्बन्ध में मूर का उत्तर क्या होगा। मूर के अनुसार साधारण भाषा में जब हम 'भौतिक वस्तुएं' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय कुर्सी, मेज़ या इसी तरह की वस्तुओं से है। साधारण भाषा में जानने का अर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है निश्चित ज्ञान, न कि मात्र विश्वास। मूर का तर्क यह है कि यह कहना कितना बेतुका है कि कोई व्यक्ति कुर्सी पर बैठा है, वह केवल विश्वास करता है कि वह कुर्सी पर बैठा है और उसे निश्चित रूप से इसका ज्ञान नहीं है कि वह वस्तुतः कुर्सी पर बैठा है। मूर इस बात का संकेत देना चाहता है कि साधारण भाषा उस रूप में कार्य नहीं करती जिस रूप में दार्शनिक उसे समझते हैं। यदि कुर्सी पर बैठा कोई बालक यह कहे कि वह निश्चित रूप से नहीं जानता कि वह वास्तव में कुर्सी पर बैठा है तो हम तुरन्त उसकी भूल को सुधारेंगे और कहेंगे कि शब्द 'सम्भाव्य' साधारण भाषा में उस रूप में व्यवहृत नहीं होता जिस रूप में वह उसे प्रयुक्त कर रहा है और इस वर्तमान स्थिति में उसे अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सम्भाव्य की जगह 'जानना' शब्द प्रयुक्त करना चाहिए। साधारण भाषा तथ्यों का परिष्करण नहीं करती जब कि दार्शनिक साधारण भाषा के कथनों की व्याख्या करते समय भ्रमपूर्ण भाषा प्रयुक्त करके तथ्यों को विकृत कर देते हैं।

मैल्कम के विचार में मूर का तर्क यह है कि दार्शनिक विरोधाभास उस समय उत्पन्न होते हैं जब साधारण भाषा कथनों की गलत व्याख्या की जाती है। जब बर्कले सत्ता अनुभवमूलक है इस मत के पक्ष में तर्क देता है तो वह वास्तव में साधारण भाषा का परिष्करण करता है जिसमें 'एक सेब है' का अर्थ यह है कि 'एक सेब भौतिक रूप से विद्यमान है, चाहे मैं उसका अनुभव करता हूं या नहीं करता हूं'। समस्त दार्शनिक विवाद ऐसे प्रयास का परिणाम हैं जो साधारण भाषा का कोई गुप्त अथवा भ्रमपूर्ण अर्थ ढूंढना है। जब मूर साधारण बोध की रक्षा करता है तो वह साथ ही तथ्यों को प्रस्तुत करने के संतोषपूर्ण माध्यम के रूप में साधारण भाषा की भी रक्षा करता है।

फिर भी यदि मैल्कम का विचार उचित है तो मूर से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि साधारण भाषा तथ्यों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है तब दार्शनिक का कार्य क्या है? क्या समस्त दार्शनिक क्रियाएं अनुपयोगी हैं? नहीं। मूर का विचार है कि फिर भी दार्शनिक की आवश्यकता है। उसका कार्य साधारण भाषा के कथनों के अर्थ का विश्लेषण करना है। 'सम जजमेण्टस ऑफ पर्सेप्शन'[७] तथा 'स्टेटस ऑफ सेन्स डाटा' में मूर स्वयं साधारण निर्णयों का विश्लेषण करने का कार्य करता है। वह 'मैं टेबुल देखता हूं' तथा 'मैं कुर्सी देखता हूं' जैसे साधारण कथनों के अर्थ की व्याख्या करने का प्रयास करता है और अपने संवेद प्रदत्तों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिसके अनुसार जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हम जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करते हैं वह उस वस्तु के धरातल का एक भाग है तथा शेष को हम अनुमित करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मैल्कम का विचार उचित है और यदि मूर के अनुसार दार्शनिक का कार्य विश्लेषण करना यह है तब साधारण कथनों के अर्थ का विश्लेषण करते हुए मूर स्वयं वही त्रुटि प्रस्तुत करता है जिसके लिए वह अन्य दार्शनिकों की आलोचना करता है–अर्थात् साधारण कथनों का नवीन तथा परिष्कृत अर्थ ढूंढना। राइल का कहना उचित ही है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो वस्तु के अतिरिक्त किसी संवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष नहीं करते।[८] हम मेज़ अथवा कुर्सी का प्रत्यक्ष करते हैं न कि मेज़ के धरातल के एक भाग का। हम 'रंगों के धब्बे' अथवा 'घुड़ दौड़ की झलक' का प्रत्यक्ष नहीं करते, जब हम कहते हैं कि 'रंगीत वस्तु' अथवा 'घुड़दौड़' का प्रत्यक्ष हो रहा है। इसका अर्थ समझने के लिए किसी गहन विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है।

यह ध्यान देने की बात है कि स्वयं राइल भी साधारण भाषा का समर्थक है। उसकी रुचि ऐसी तमाम कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों को दार्शनिक शब्दावली से बहिष्कृत कर देने में है जिनका साधारण भाषा में कोई उपयोग नहीं है। संवेद प्रदत्तों का सिद्धान्त भी दार्शनिक की कल्पना ही है। साधारण भाषा में हम कभी नहीं कहते कि हमें संवेद–प्रदत्तों का अनुभव हो रहा है। हम कभी यह नहीं कहते कि हमें रंगों के धब्बों अथवा वस्तुओं की झलक का अनुभव होता है। यदि संवेद–प्रदत्त नाम की कोई चीज होती तो उसके लिए कोई उपयुक्त सामान्य अभिव्यक्ति भी होती।

यद्यपि मूर साधारण भाषा के कथनों की सत्यता पर संदेह नहीं करता, वह उनके अर्थ का विश्लेषण करना आवश्यक समझता है। परन्तु जब वह ऐसे कथनों का विश्लेषण करता है कि 'मैं टेबुल देखता हूँ' अथवा 'मैं कुर्सी देखता हूँ' तो वह अन्त में उसी भ्रमपूर्ण और साधारण बोध से विरक्ति की स्थिति को जा पहुंचता है जिसके लिए वह विरोधियों पर आरोप लगाता है। उसके विरुद्ध यह आरोप लगाया जा सकता है कि उसका (मूर का) विपक्षी बर्कले भी 'सत्ता अनुभव मूलक है' इस कथन को स्थापित करने के लिए 'जड़' की साधारण–बोध–अवधारणा का विश्लेषण और व्याख्या करता है और दिखाता है कि वह भ्रामक है : और मूर भी यही करता हो तो मूर किस रूप में अपने विपक्षी से भिन्न है?

बर्कले अपने जड द्रव्य जैसे 'सेब' के विश्लेषण में निरन्तर साधारण बोध का सहारा लेता है। सेब क्या है? गुणों का समूह। इसमें रंग है, कुछ आकार है, स्वाद है तथा ठोस है। रंग अथवा आकार क्या हैं? ये वे संवेदनाएँ हैं जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के समय उत्पन्न होती हैं। स्वाद क्या है? एक प्रकार की संवेदना जो इसे खाने के समय उत्पन्न होती है। ये तमाम संवेदनाएँ क्या हैं? मन के प्रत्यय। अतः बर्कले इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सेब मन के प्रत्यय अथवा गुणों के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

बर्कले सेब के विश्लेषण द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मन से स्वतन्त्र तथा परे किसी सेब की भौतिक सत्ता नहीं है।[१] हो सकता है कि बर्कले का विश्लेषण गलत हो और मूर का विश्लेषण उचित हो। परन्तु मुख्य प्रश्न है कि क्या सत्ता तक साधारण बोध के द्वारा पहुंचना संतोषपूर्ण है, अथवा क्या हमें ऐसे दार्शनिक की आवश्यकता है जो अपने विश्लेषण के उपकरणों की सहायता से यह बतला सके कि संसार कैसा है? यदि मूर यह सोचता है कि हम लोग साधारण बोध अथवा साधारण भाषा के द्वारा सत्ता को ग्रहण कर सकते हैं तो फिर वह अपने संवेद-प्रदत्तों के सिद्धान्त को कैसे न्यायोचित ठहराता है जो स्वयं दर्शन के क्षेत्र में एक अन्य प्रकार का परिष्करण तथा साधारण भाषा से विलगाव है? यदि मूर साधारण भाषा का ऐसा दार्शनिक है जो साधारण कथनों के अर्थ में किसी भी प्रकार के परिष्कृत व्याख्या की अनुमति नहीं देता तब तो दार्शनिक विश्लेषण एक अप्रासंगिक कार्य बन कर रह जाएगा।

शहीद अहमद

दर्शनशास्त्र विभाग
ओरिएन्टल कॉलेज
पटना शहर,
पटना (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. रेने देकार्त; द डिस्कोर्स ऑन मेथड, रीप्रिण्टेएड मैन ऐण्ड युनिवर्स: द फिलास्फर्स ऑफ साइन्स, सम्पादक सैक्स कामिन्स तथा राबर्ट एन. लिकास्ट, द पॉकेट लाइब्रेरी १९५४ पृ० १६३

२. एडवर्ड पाल, मुख्य सम्पादक, द एन्साइक्लोपीडिया ऑफ फिलासफी मैकमिलन तथा फ्री प्रेस न्यूयार्क भाग दो पृ० १५५-१५९

३. जी. ई. मूर, 'ए डिफेन्स आफ कामन सेन्स' पुनर्प्रकाशित ट्वेन्टीएथ सेञ्चुरी फिलासफी : द एनेलिटिकल ट्रेडिशन, सम्पादक मोरिस वीज, द फ्री प्रेस न्यूयार्क, १९६६ पृ० ९८-१२४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. जी. ई. मूर, 'द स्टेटस् आफ सेन्स डेटा', फिलोसोफिकल स्टडीज, रोटलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन १९३१ पृ० १६८–१९४

५. सैण्डर्स पियर्स, फिक्सेशन ऑफ बिलीफ, पुर्नप्रकाशित, क्लासिकल अमेरिकन फिलासफर्स : सम्पादक फील्ट एच. मैक्स, सेञ्चुरी क्राफ्ट्स न्यूयार्क पृ० ५४–७०

६. नार्मन मैल्कम, 'मूर ऐण्ड आर्डिनरी लैंग्वेज', द फिलासफी ऑफ जी.ई. मूर, सम्पादक, आर्थर शिल्प, पाल टुड पब्लिकेशन कंठ न्यूयार्क १९४२

७. जी. ई. मूर, 'सम जज्मेण्ट्स् ऑफ पर्सेप्शन', फिलोसोफिकल स्टडीज, रोटलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन १९३१

८ गिल्बर्ट राइल, द कन्सेप्ट ऑफ माइण्ड, वार्न्स ऐन्ड नोबुल, एवरी डे हैन्डबुक्स, न्यूयार्क, १९५१

९. जार्ज बर्कले, प्रिन्सिपुल्स, डायलागस् ऐन्ड करेस्पाण्डेस, सम्पादक, कोलिन मरे टरबेन, द लायब्रेरी आफ लिबरल आर्ट, बावस मेरिल, न्यूयार्क, १९६५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अशुभ का स्वरूप और रवीन्द्रनाथ टैगोर

विश्व में व्याप्त अशुभ के सम्बन्ध में अनेक विचारकों ने अपने–अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं। उन्हीं विचारकों में रवीन्द्रनाथ टैगोर भी एक हैं; जिन्होंने अशुभ के स्वरूप के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन एवं विश्लेषण किया है। इस निबन्ध का उद्देश्य टैगोर के अशुभ विषयक विचार का सम्यक् विवेचन करना है। क्योंकि उनके अशुभ विषयक विचार विशिष्टता से ओत–प्रोत हैं।

टैगोर अशुभ को एक तथ्य के रूप में स्वीकारते हैं। अशुभ जीवन का अंग है। अशुभ की वास्तविकता की अनुभूति मानव को होती है। संसार में दुःख, भ्रान्ति तथा विरोध के अनक उदाहरण मिलते हैं। अशुभ का अर्थ शुभ का अभाव है। यह एक वास्तविकता है कि जीवन में मानव शुभ की अनुपस्थिति को अनेक रूपों में पाता है। निर्धनता, कुरूपता, अज्ञान आदि अशुभ हैं, क्योंकि इनमें हम क्रमशः धन, सौन्दर्य और ज्ञान का अभाव पाते हैं। अशुभ मानवीय जीवन की एक कठोर अनुभूति है। चूंकि मानव अशुभ की अनुभूति करता है, इसलिए अशुभ मानवी जीवन का एक प्रमुख अंग है।

यह ठीक है कि मानव अशुभ से परे रहने की क्षमता रखता है क्योंकि विकास का क्रम सदा शुभ की ओर अग्रसर रहा है। जीवन का लक्ष्य अशुभ के घेरों से ऊपर उठ कर शुभ की ओर गमन है। मानव अशुभ के घेरों से ऊपर उठ कर शुभ को प्राप्त कर लेता है, परन्तु इससे अशुभ की अयथार्थता प्रमाणित नहीं होती। जबतक अशुभ का रूपान्तरण शुभ के रूप में नहीं होता है तबतक अशुभ एक वास्तविकता है, क्योंकि अशुभ की अनुभूति होती है तथा अशुभ अस्तित्व का एक प्रमुख अंग है। जबतक अशुभ विद्यमान है इसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस तथ्य के सन्दर्भ में टैगोर ने कहा है "भ्रम भी भ्रम के रूप में ही सत्य है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि यदि अशुभ एक त्रुटिपूर्ण

परामर्श, (हिन्दी), वर्ष ११, अंक १, दिसम्बर १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दृष्टिकोण का परिणाम है तब उसे अशुभ के रूप में तब तक स्वीकारना होगा जब तक की त्रुटिपूर्ण दृष्किोण विद्यमान है।

दुःख, विपत्ति, पाप ये सभी जीवन के तथ्य हैं। जख्म, रोग तथा दंत–रोग जैसे अशुभ मानव के दुःख के कारण हैं। इस अशुभों से मानव को निरन्तर कष्ट होता है। पापमय कर्म मानव के शांति को भंग करते हैं, और इस प्रकार आनन्द की प्राप्ति में बाधक होते हैं। ये सभी अशुभ इतने वास्तविक हैं कि इनका निषेध नहीं किया जा सकता है।

टैगोर अशुभ की वास्तविकता को इसलिए भी स्वीकारते हैं कि वे संसार को वास्तविक मानते हैं। टैगोर के मतानुसार यह संसार एक सृष्टि होने के नाते विश्व में अपूर्णता निहित है। सृष्टि और अपूर्णता में अविनियोज्य सम्बन्ध है। इसलिए यह प्रश्न करना कि संसार में अशुभ क्यों है निरर्थक प्रतीत होता है। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए टैगोर ने कहा है 'संसार में अशुभ क्यों है, यह प्रश्न वैसा ही है जैसा कि संसार में अपूर्णता क्यों है'। याने यह प्रश्न पूछने का मतलब यह है कि संसार की रचना का अर्थ ही क्या है ? इस सम्बन्ध में टैगोर का यह मत है कि उसके अलावा और कुछ संभव ही नही था। रचना का अपूर्ण होना धीरे–धीरे उसके विकसित होने के लिये अनिवार्य था। और साथ साथ यह प्रश्न भी उतना ही निरर्थक है कि हमारा अस्तित्व किसलिये है ?[२]

इस तरह टैगोर के मतानुसार संसार की ससीमता और अपूर्णता सृष्टि के अनिवार्य परिणाम हैं। अतः विश्व का अङ्ग होने वाले अशुभ को वास्तविकता के रूप में स्वीकारना अपेक्षित है।

टैगोर का अशुभ विषयक यह विचार संत अगस्टिन के विचार से संगति नहीं रख पाता। अगस्टिन ने अशुभ को अभावात्मक वस्तु के रूप में स्वीकारा है। उनके मतानुसार अशुभ शुभ का निषेध है। अशुभ को अगस्टिन के दर्शन में वास्तविकता का दर्जा प्राप्त नहीं है। अगस्टिन ने अशुभ की सत्ता का ही निषेध किया है। इसके विपरीत टैगीर के दर्शन में हम अशुभ की वास्तविकता पर बल पाते हैं।

टैगोर ने अशुभ को अस्थायी माना है। अशुभ की तुलना टैगोर ने भ्रान्ति से की है। जिस प्रकार भ्रान्ति अस्थायी है उसी प्रकार अशुभ भी अस्थायी है। मानव भ्रांन्ति को तभी तक स्वीकारता है जब तक उसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता है। ज्योंहि मानव को ज्ञान प्राप्त होता है त्योंहि मानव भ्रांति की अवास्तविकता से अवगत हो जाता है। भ्रांति की अवास्तविकता पर बल देते हुए टैगोर ने लिखा है,– "भ्रांति स्वभावतः स्थायी नहीं होती सत्य के साथ सदा नहीं रह सकती। एक मुसाफिर की तरह जैसे ही वह पूरा मूल्य नहीं चुका पायेगा, उसे उस सराय से तुरन्त निकलना पडेगा।"[१]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह सत्य है कि ज्ञान वैज्ञानिक अथवा अन्य कोटि के अवगमनों से गलतियों के माध्यम से विकसित होता है। उसी प्रकार शुभ का विकास अशुभ के घेरों से ऊपर उठने में निहित है। शुभ की प्राप्ति अशुभ की सीमाओं के अतिक्रमण में ही निहित है।'

यदि हम वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के क्रम को रेखांकित करते हैं तब पाते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान का विकास भ्रांतियों के निराकरण के द्वारा संभव होता है। परन्तु यह विडम्बना है कि वैज्ञानिक ज्ञान की चर्चा करते समय मनुष्य सत्य की महत्ता पर ही बल देता है, तथा भ्रांति एवं गलतियों की महत्ता को भुला देता है। उन्हें विस्मृत कर देता है जो न्याय–संगत नहीं प्रतीत होता है।

उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि टैगोर के मतानुसार शुभ की चर्चा करते समय अशुभ की महत्ता का निषेध करना न्याय संगत नहीं है। इसका मूलकारण यह है कि शुभ का विकास अशुभ के माध्यम से ही हो पाता है। इससे टैगोर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अशुभ शुभ की प्राप्ति में योगदान देता है।

टैगोर अशुभ की महत्ता का उल्लेख विभिन्न उपमाओं के व्दारा करते हैं।

अशुभ जीवन का एक आवश्यक अंग है। अशुभ जीवन की गति का अवरोध नहीं करता अपितु उसकी गति के विकास में योगदान देता है। एक बच्चा अनेक बार गिरने के उपरान्त चलना सीख लेता है। जब बालक चलना सीख लेता है तब उसे आनन्द का बोध होता है। उसी प्रकार अशुभ की सीमाओं से ऊपर उठने में ही शुभ का यथार्थ आकलन निहित है।

टैगोर ने मृत्यु को उच्चतम अशुभ के रूप में स्वीकारा है। मृत्यु हमें अशुभ तभी प्रतीत होता है जब हम मृत्यु को जीवन से पृथक् करके विवेचित करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि मृत्यु जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। यदि हम मृत्यु को एक व्यक्ति–विशेष के जीवन से जोड़ देते है, तब मृत्यु का अर्थ वर्तमान इस जीवन का अंग होगा। परन्तु इससे परे एक व्यापक दृष्टिकोण के द्वारा भी मृत्यु का मूल्यांकन सम्भव है। यदि हम मृत्यु को विश्व–व्यापी सन्दर्भ में देखने का प्रयत्न करें तब मृत्यु हमें कल्याणकारी सृष्टि का एक अनिवार्य और लाभप्रद अंग के रूप में ज्ञात होगा। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए टैगोर ने कहा है 'मृत्यु को जीवन से अलग करके जब हम देखते हैं तभी हम इसके भयानक रूप से डरते हैं। लेकिन तब हम अपने जीवन के सम्पूर्ण रूप को अगोचर कर देते हैं, जिसका मृत्यु एक अंश माना जाता है। जीवन को मृत्यु के झरोखे से देखना कपड़े के एक टुकड़े को सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखने के तुल्य भूल है। इस यंत्र से देखने पर हम टुकड़े के छिद्रों पर नज़र गड़ा देते हैं और चौंक जाते हैं, किन्तु सच्चाई यह है कि ये छिद्र ही कपड़ा नहीं है; मृत्यु ही जीवन की सच्चाई नहीं है। यह जाली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसी तरह दिखती है जैसे आकाश नीला दीखता है। नीला आकाश पक्षियों के पंखो को नीला नहीं करता है। उसी प्रकार मृत्यु हमारे जीवन को अपने रंगों में नहीं रंगती।'[४]

इस प्रकार टैगोर अशुभ को अस्थायी मान कर उस की तुलना भ्रम से करते हैं।

इस प्रकार टैगोर के उपर्युक्त अशुभ सम्बधि विचारों को देखते हुए निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि टैगोर अशुभ को विश्व की एक विशेषता मानते हैं। विश्व एक सृष्टि होने के कारण यह अपूर्ण है, क्योंकि कोई भी सृष्टि पूर्ण नहीं होती, कुछ न कुछ अपूर्णता उसमें रह जाती है, अर्थात् सृष्टि का अपूर्ण होना उसका स्वभाव है। अतः अशुभ विश्व की अपूर्णता का प्रतीक है। इस प्रकार टैगोर अशुभ को एक तथ्य के रूप में स्वीकारते हैं, जिसे अनुभव किया जाता है।

टैगोर ने अशुभ को शुभ का विरोधी और शुभ का निषेध करनेवाला नहीं कहा है, अर्थात् टैगोर के मतानुसार अशुभ का स्वरूप अभावात्मक नहीं है।

टैगोर ने अशुभ को अस्थायी कह कर मानव समुदाय को आशावाद की ओर मुखरित है। अशुभ क्षणिक है, शाश्वत नहीं।

टैगोर ने शंकर के समान अशुभ की तुलना भ्रम से की है। जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद भ्रम दूर हो जाता है, उसी प्रकार शुभ की प्राप्ति हो जाने पर अशुभ दूर हो जाता है।

टैगोर ने पुनः कहा है कि अशुभ हमारे समक्ष समस्या बन कर तभी उपस्थित होता है जब हम उसे जीवन का स्थायी भाग स्वीकार कर लेते हैं। अतः अशुभ अस्थायी है, स्थायी नहीं।

टैगोर अशुभ को तथ्य कहते हैं, परम तथ्य नहीं। तथ्य और परम तथ्य के बीच सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करते हुए टैगोर ने कहा है कि तथ्य वह है जिसका निषेध नहीं किया जा सकता। तथ्य नित्य स्थायी नहीं होता, जबकि परम तथ्य; जिसे टैगोर शुभ कहते हैं, नित्य स्थायी है। अर्थात् परम तथ्य का स्वरूप नित्य स्थायी है।

रानी रूपमती सिन्हा

द्वारा, श्री चन्द्रमौलेश्वर प्रसाद
जनता आटा तेल मील
नई गोदाम
गया–८२३००१
(बिहार)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. टैगोर, रवीन्द्रनाथ; साधना, पृ. १५५.
२. तत्रैव, पृ. ४७.
३. तत्रैव, पृ. ४८.
४. तत्रैव, पृ. ५०.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राचीन भारत में यज्ञ का स्वरूप और वाममार्ग

प्राचीन भारत के ऋषि–मुनियों पर यज्ञ में पशु की बली देने और मांस–भक्षण का आरोप अक्सर लगाया जाता है। ऐसे आरोपों से आर्य–सिद्धांतों में अटूट निष्ठावान् किस सच्चे वैदिक को ठेस पहुंचना स्वाभाविक है। प्राचीन भारत में यज्ञ का यथार्थ स्वरूप क्या था और कालांतर में कब और कैसे इस स्वरूप में विकार पैदा हुआ ? इस पर कुछ विस्तार से कहने की आवश्यकता है।

अब से करीब पाँच हजार साल पहले महाभारत–युद्ध की समाप्ति तक आर्यत्व (हिंदुत्व) अपनी गौरवमयी वैदिक आभा में रमण करता था।[1] लेकिन इस युद्ध की समाप्ति और योगेश्वर कृष्ण के महाप्रयाण के बाद आर्यावर्त के राजाओं के निष्क्रिय होने और महान् वैदिक ज्ञान–परंपरा के धीरे–धीरे लुप्त हो जाने के समय से भारत का भाग्य निस्तेज होना शुरु होता है।[2] उस समय यहाँ एक वाम मार्ग, जिसका कि उद्देश्य ही था–वैदिक पवित्र नियमों के वाम (विपरीत) चलना। इस संप्रदाय ने भारत में वो अनाचार–पापाचार फैलाया कि वर्णन नहीं किया जा सकता। इन वाममार्गियों के कालीतंत्र, कुलार्णव तंत्र, महानिर्वाणतंत्र, ज्ञान संकलनी तंत्र, उड्डीस तंत्र आदि ग्रन्थ महा अपवित्र और अश्लील बातों से भरे पडे हैं।[3] यह वही वाममार्ग था जिसने कल्याणकारी वैदिक विचारों का बंडल बनाकर ताक पर धर दिया और पंच मकार–मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा में आस्था प्रकट की।[4] वैदिक मंत्रों के अर्थ का अनर्थ करने, ऋषि–मुनि प्रणीत धार्मिक कृतियों में अनाचारी हस्तक्षेप करने, तथा यज्ञों को भ्रष्ट करने का कुश्रेय इसी वाममार्ग को है।[5]

एक शब्द है–"बलि"। "बलि" शब्द के बहुत से अर्थों में आराधना, सत्कार (सेवा–सम्मान) भी एक अर्थ है।[6] प्राचीन कालीन वैदिक यज्ञों के साथ जो पशुओं के नाम जुडे हैं, वहाँ उन यज्ञों में पशु–विशेष की उपयोगिता व महत्ता को समझकर उसकी यथोचित सेवा करके उस पशु के प्रति सम्मान दर्शाना ही

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ११, अंक १; दिसम्बर, १९८९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मंतव्य था। आर्यों के 'गो मेध', 'अश्व मेध', आदि पशु परक यज्ञों का उद्देश्य गाय, घोडा आदि राष्ट्रोपयोगी पशु की बलि (सत्कार, सेवा–टहल) था, हत्या नहीं। जैसे 'गो–मेध यज्ञ' को ही लें। 'गो' शब्द के गाय, पृथिवी, वाणी, इंद्रिय; चक्षु आदि बहुत से अर्थ हैं।[७] 'मेध' का भी व्यापक अर्थ है, जैसे–जानना–परखना; समझना, ज्ञात करना, मूल्य आंकना आदि।[८] किसी चीज की उपयोगिता–महत्ता को सम्यक् रूपेण अन्वेषित करने के लिये उस पर किए गए प्रगाढ़ वैचारिक मंथन को 'मेध' कहते हैं। वस्तु–विशेष के यथेष्ट मूल्यांकन के लिये यह बहुत जरूरी है। 'यज्ञ' का भी अर्थ सिर्फ घृतादि पदार्थ की अग्नि में आहुति देना नहीं होता। यह सही है कि अग्नि–होत्र किसी भी यज्ञ का प्रधान कर्म है क्योंकि इसके पीछे वायु, जलादि की शुद्धि का परोपकारी भाव है। किन्तु वास्तव में यज्ञ कहते हैं पुरुषार्थों को, परिश्रम को। किसी लोकहितकारी सुकार्य को सुसंपन्न करने के लिये किया गया पुरुषार्थ (परिश्रम) 'यज्ञ' कहलाता है।[९] यह 'गोमेध यज्ञ' के 'गो', 'मेध' और 'यज्ञ', इन तीनों शब्दों का स्पष्टीकरण है। अतएव 'गोमेध यज्ञ' राष्ट्र में गाय की पुष्टि, बल, दुग्धाधिक्य साथ के साथ पृथिवी की समृद्धि, वाणी व चक्षु की शुचिता, इंद्रिय संयमन प्रभृति बहुत से शुभ उद्देश्यों को लेकर आयोजित किया जाता था।[१०] इस यज्ञ के द्वारा गाय, भूमि, वाणी, इंद्रिय आदि को सम्मक्तया जान कर इनका सदुपयोग ही ऋषियों को अभीष्ट था; क्योंकि दुरुपयोग होने की दशा में संभावी महान् अनिष्ट से ऋषिगण सदैव भय-भीत रहे। यही बात 'अश्व मेध यज्ञ' के साथ है। प्राचीन वैदिक साहित्य में और पश्चात्वर्ती संस्कृत साहित्य में भी 'अश्व' शब्द घोडे के लिए तो प्रस्तुत हुआ ही है किन्तु साथ ही अनेक तरह के रथों, यानों–विमानों आदि के लिये भी इस बात का प्रचुर इस्तेमाल किया गया है।[११] राष्ट्र में घोडों, रथों, यानों–विमानों आदि के संवर्धन व प्रतिष्ठा के लिये अश्व–स्तुति परक यह 'अश्व मेध यज्ञ' होता था। ऐसे ही 'अजा मेध यज्ञ' को समझना चाहिए। मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के दाह आदि क्रिया कर्म के लिये 'नर मेध यज्ञ' होता था।[१२] इस प्रकार प्राचीन वैदिक कालीन भारत में आर्य–ऋषियों के यज्ञों का ऊपर विवेचित ही स्वरूप था। अतः "आर्य–ऋषि वेदी पर यज्ञाग्नि में पशु की बलि (पशु को मारकर उसके रक्त–मांस की आहुति) चढाते थे, यह कहना प्राचीन आर्य–संस्कृति का सरासर अपमान है। प्राचीन आर्य–ऋषियों का दृष्टिकोण तो बड़ा उदार और व्यापक था। मानव ही नहीं, मानवेतर प्राणियों के लिए भी उनके हृदयों में अपार करुणा थी। 'बलि वैश्व देव यज्ञ' जिसे 'भूतयज्ञ' भी कहते हैं, ऋषियों की मानवेतर प्राणियों के प्रति करुणा का ही परिचायक है। इस यज्ञ में जल, थल, नभ, तीनों ही स्थानों के भूत–प्राणियों के लिए बलि (घी मिश्रित मिष्ट और अन्न का भाग) का विधान है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किन्तु खेद सहित कहना पडता है कि वाम–मार्गियों ने वैदिक ज्ञान–विज्ञान पर आधृत इस शुद्ध यज्ञीय पद्धति को तोड़–मरोड़ कर यज्ञ का ऊट–पटांग स्वरूप निर्धारित कर दिया। ये लोग 'गोमेध यज्ञ' के नाम पर गाय को मारकर, 'अश्व मेध यज्ञ' के नाम घोडे को मार कर तथा 'अजा मेध यज्ञ' के नाम पर बकरी को मारकर उनके अंग–प्रत्यंग को काट कर अग्नि में झोंकने लगे। 'गो मेध', 'अश्व मेध', 'अजा मेध' तथा ऐसे ही 'यज्ञ' शब्द के व्यापक शुभ अर्थ को संकुचित कर लोक–रूढ कर दिया गया और इनके नाम पर नाना प्रकार के अत्याचार और कुकर्म करने लगे।[१३] इतना ही नहीं, 'नर मेध यज्ञ' के नाम पर 'नरबलि' जैसा घृणित कर्म भी इन वाम मार्गियों ने किया।[१४] और स्वार्थ में अंधे होकर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसा वाहियात नारा लगाया।[१५]

पूर्वोक्त प्राचीन शुद्ध यज्ञीय पद्धति के वाम मार्गियों के काल में इस कदर दूषित हो जाने पर उस समय व्यापक पैमाने पर गाय, घोडा आदि पशुओं की हत्याएँ कर अग्नि की भेंट चढ़ाया गया। सिंधु–सभ्यता काल (जिसको इतिहास के अधिकांश पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वान् विश्व की प्राचीनतम सभ्यता का काल माने बैठे हैं) वस्तुतः इन्हीं वाममार्गियों के भारत में अंकुरित होकर पनपने का काल है। महाभारत–युद्ध की समाप्ति के करीब पाँच सौ साल बाद से शुरू होकर महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव (ईसा पूर्व छठी शताब्दी) तक के बीच का काल भारत में वाम मार्गी सभ्यता या तथाकथित 'विश्व की आदि सिंधु सभ्यता' का ही काल है। भारत में लगभग दो हजार वर्षों के इस दूषित अल्प काल ने लाखों वर्षों से चली आ रही आर्यों की महान् वैदिक संस्कृति के समस्त कृत्यों को मटियामेट कर दिया। सिंधु–सभ्यता को आदि सभ्यता कहने वाले तथा रामायण और महाभारत काल की वैदिक सभ्यताओं को इसकी पश्चात्वर्ती सभ्यताएँ मानने वाले विद्वानों को इन पंक्तियों के लेखक की बात अखर सकती है, लेकिन वर्तमान शताब्दी के आरंभ में सिंधु–सभ्यता की खुदाई के दौरान पुराविदों को मिले तंत्र–मंत्र, यंत्र, ताबीज, टोनेटोटके व पशुओं की जली हुई हड्डियों तथा लिंग व योनि–पूजा के प्रमाण[१६] साफ दर्शा रहे हैं कि यह सभ्यता महाभारत काल के बाद भारत में पनपी दुष्ट वाम मार्गी ही सभ्यता है। क्योंकि तंत्र–मंत्र, ताबीज और टोने–टोटके में विश्वास करने, यज्ञ के नाम पर पशुओं को जलाने तथा पुंरुष के लिंग व स्त्री की योनि को पूजने जैसी दुष्परंपरा भारत में इन्हीं वाम मार्गियों के काल में उपजी तथा फूली–फली। वेदों के उद्भट विद्वान आचार्य महर्षि दयानंद भी अपने सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं– "भैरवी चक्र में वाम मार्गी लोग भूमि वा पट्टे पर एक बिन्दु त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्तुलाकार बनाकर उस पर मद्य का घडा रख के उसकी पूजा करते हैं। फिर ऐसा मंत्र पढते हैं 'ब्रह्म शापं विमोचय'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हे मद्य, तू ब्रह्मा आदि के शाप से रहित हो। एक गुप्त स्थान में कि जहाँ सिवाय वाम मार्गी के दूसरों को नहीं आने देते, वहाँ स्त्री और पुरुष इकट्ठे होते हैं। वहाँ एक स्त्री को नंगी कर पूजते और स्त्री लोग किसी पुरुष को नंगा कर पूजती हैं।...पश्चात् एक पात्र में मद्य भरके मांस और बडे आदि एक थाली में धर रखते हैं। उस मद्य के प्याले को जो कि उनका आचार्य होता है, वह हाथ में लेकर बोलता है कि 'भैरवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' 'मैं भैरव वा शिव हूँ' कहकर पी जाता है। फिर उसी जूठे पात्र से सब पीते हैं और तब किसी की स्त्री वा वेश्या नंगी कर अथवा किसी पुरुष को नंगा कर हाथ में तलवार देके उसका नाम देवी और पुरुष का नाम महादेव धरते हैं, उनके उपस्थ इंद्रिय (पुरुष का लिंग, स्त्री की योनि) की पूजा करते हैं।' [१७]

इस वाम मार्गी असभ्यता का दुष्प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पडा है। ऋषियों–पुरोहितों द्वारा विभिन्न अवसरों पर पशु का वध करने तथा मांस–सेवन करने की भवभूति प्रभृति कवियों की जो कल्पनाएँ बाद के संस्कृत–साहित्य में यदा–तदा देखने को मिलती हैं [१८] उनके पीछे वामाचार ही प्रेरणा स्रोत है।

आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले (ईसा पूर्व छठी शताब्दी) अहिंसा के दो पुजारियों–महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध–ने क्रूर ब्राह्मणों के यज्ञों के नाम पर निरीह पशुओं को कत्ल करने तथा मांस–भक्षण से विरोध में आवाज बुलंद की। [१९] यह वही समय था जबकि शताब्दियों के वाम मार्गी प्रदूषण से ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म अत्यन्त विकार को प्राप्त होकर उसमें सड़ांध पैदा हो चुकी थी। महावीर और बुद्ध के अहिंसा के क्रांतिकारी आह्वान को सुनकर धूर्त ब्राह्मणों के द्वारा सैकडों वर्षों से मूर्ख बनायी हुई भोली जनता अब उनके हाथों से छूटने लगी। अपने अनर्थों के औचित्य को सिद्ध करने के लिये पाखंडियों ने अब वेद को हथियार बनाया। इस पर दोनों ही दयालु दार्शनिकों का उत्तर था– 'हम ऐसे वेद को नहीं मानते जो हिंसा की शिक्षा देता हो।' यहाँ दुःख सहित कहना पड़ता है कि दोनों ने वेद की गहराई में जाकर उसको तत्त्व से जानने की चेष्टा नहीं की और मक्कारों के वेद की असलियत को छुपाकर स्वार्थ–सिद्धि के लिये तोड़–मरोड़कर पेश किए गये झूठे–नकली दृष्टांतों से ही व्यथित होकर जोश में आकर इस महान् और पवित्र विद्या को भी धार पर धर दिया। काश, दोनों दार्शनिकों को यह ज्ञात हो पाता कि अहिंसा के जिस सिद्धान्त का प्रचार कर वे वाह वाही लूट रहे हैं, वह अहिंसा तो वस्तुतः वेद का प्राण है तो वेद – विरोधी जैन और बौद्ध मत संसार में कभी न आते। सचमुच, जैन और बौद्ध मत विकृत वैदिक धर्म की ही प्रतिक्रिया थे। [२०] हिंसा से ऊबी हुई जनता को अहिंसा और शान्ति का नवीन संदेश बहुत भाया और वह इस परिवर्तन को अपनाने के लिये लालायित हो उठी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुद्ध और महावीर की देश-देशान्तर व्यापी सबल घोषणाओं के मुकाबले वेद-विहीन निर्बल ब्राह्मण-धर्म लड़खड़ा कर गिर पड़ा। कालांतर में बुद्ध की शिक्षाओं के अद्वितीय वाहक सम्राट् अशोक के शासन में पशु-हत्या को अवैध ठहराया गया। खूनी यज्ञों पर सख्त पाबन्दी लगा दी गयी।[३१] आज्ञा का उल्लंघन करने वालों की बड़े पैमाने पर धर-पकड़ हुयी और उन्हें कठोरता से दंडित किया गया। फलतः अब अधिकांश वाम-समुदाय इस धर्म परिवर्तन का अनुमोदन करने और उसे अपनाने पर विवश हुआ। जो कट्टर थे, उन्होंने मुख्य धारा से कटकर सुदूर पूर्वोत्तर और मध्य देश के पहाड़ी-जंगली अंचलों में शरण ले ली और वहीं रहकर वाम मार्गी शिक्षाओं का प्रचार किया। तब से लेकर पीढ़ी दर पीढ़ी यह शिक्षा वहां चलती आयी है। आज भी इन अंचलों में यह वामाचरण अनेक कुरीतियों के रूप में मौजूद है।

जय सदन आलोक शर्मा
देवपुरम्
मुजफ्फरनगर—२५१००१.
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था' – सत्यार्थ प्रकाश, महर्षि दयानंद सरस्वती, उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका।

२. सत्यार्थ प्रकाश-एकादश समुल्लास, उपदेश मंजरी, वैदिक प्रकाशन विभाग, अजमेर, ११७६, पृ. ९८

३. सत्यार्थ प्रकाश-एकादश समुल्लास।

४. वहीं, अद्भुत् भारत, ए. एल. बाशम, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, १९८८, पृ. २८३

५. 'वैदिक सम्पत्ति' के यशस्वी लेखक पंडित रघुनंदन शर्मा ने इसी पुस्तक में लिखा है कि मांसयज्ञ का आदि प्रवर्तक राजा रावण था। उसी ने वेदों का सबसे पहले आसुरी भाष्य किया और पशुयज्ञ प्रचलित किया। हेमाद्रि रामायण में लिखा है कि पूर्व समय में इन्हीं अनार्य म्लेच्छों के संसर्ग से पतित हुआ पर्वतक नामक ब्राह्मण राजा वसु का उपाध्याय हो गया, जिसकी दीर्घ-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कालीन संगति से राजा वसु भी आसुरी प्रवृत्ति वाला होकर ऋषियों से द्वेष रखने लगा। यह बात ऋषियों को ज्ञात नहीं थी। इसी समय देवताओं और ऋषियों के बीच 'अज' शब्द के अर्थ को लेकर विवाद हुआ। देवता कहते थे कि अज शब्द का अर्थ बकरा है, अतः पशुमांस से यज्ञ करना चाहिए, जबकि ऋषि लोग कहते थे कि अज शब्द का अर्थ बीज है, अतः यज्ञ केवल अन्न के द्वारा ही करना चाहिए। इस पर दोनों ने निश्चय किया कि राजा वसु जो अर्थ निश्चित कर देंगे, वही हम लोगों को मान्य होगा। तदनुसार दोनों ने राजा वसु के पास आकर प्रश्न किया। ऋषियों से द्वेष होने के कारण वसु ने देवताओं के पक्ष में सम्मति प्रदान कर दी। उसके इस फैसले से ऋषियों का पक्ष गिर गया और उसी दिन से पशुयज्ञ होने लगे तथा मांस का होम होने लगा। वैदिक सम्पत्ति, पृ ४६६–४६७

उक्त तथ्य कितना सच है? कुछ कहा नहीं जा सकता। पुनरपि यदि यह स्वीकार भी कर लें कि वाममार्ग जैसी इस दूषित प्रथा का बीज–वपन रावण के काल में त्रेता में ही हो चुका था, तो भी इतना तो निश्चित है कि यह कुप्रथा द्वापरांत तक विशेष बल को प्राप्त नहीं हो सकी और छिटपुट रूप से भारतवर्ष के इक्के–दुक्के स्थलों तक ही सीमित रही। इसका विशेष प्रचार–प्रसार तो महाभारत युद्ध के पश्चात् ही हुआ, जबकि विद्वत्परम्परा का लोप हो गया और अजानता एवं निष्क्रियता बढ़ गई।

६ संस्कृत–हिन्दी कोष, वामन शिवराम आपटे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७३, पृ. ७०९.

७. वहीं, पृ. ३५३

८. "रहा 'मेध' शब्द, वह तो मेधा और मेधावी अर्थ में आता ही है।" वैदिक सम्पत्ति, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली, १९८३, पृ. ३०५

९. 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' – शतपथ ब्राह्मण– १/७/४५

१० सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास, वैदिक सम्पत्ति, पृ. २८१, ३०४–३०५

११ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, महर्षि दयानंद सरस्वती, देखें 'नौविमानादिविद्याविषय' प्रकरण के अंतर्गत अश्वि, अश्व, अश्विनी, श्वेतमश्व आदि शब्द।

१२. सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास।

१३. वाममार्गियों ने अश्वमेध यज्ञ के नाम पर गोरखपुर के किसी राजा की रानी का समागम घोड़े के साथ करा दिया।–वहीं, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, देखें– 'भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषय' प्रकरण में भाष्यकार महीधर के अश्लील अर्थ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१४. सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास, अद्भुत भारत, ए. एल. बाशम, पृ. २८२–२८३

१५. सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास।

१६. प्राचीन भारत का इतिहास, विद्याधर महाजन, एस. चंद एंड कम्पनी लि. नई दिल्ली, १९८०, पृ. ६०–६१

१७. सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास।

१८. वाल्मीकि आश्रम में वसिष्ठ के आगमन पर उनका स्वागत गाय की बछिया मार–कर किया गया–' येन परापतितेनैव सा वराकी कपिला कल्याणी बलात्कृत्य मडमडायिता।' (वाल्मीकि शिष्य सौधातकि का वसिष्ठ के विषय में कथन–उत्तररामचरितम्, भवभूति, चतुर्थअंक।

१९. प्राचीन भारत का इतिहास, वि. ध. महाजन, पृ. १७३, हिन्दू धर्म कोश, डा. राजबली पांडेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९७८, पृ. ४४४–४४५

२०. प्राचीन भारत का इतिहास, वि. ध. महाजन, पृ. १५३–१५६ इनमें से एक बौद्ध धर्म कालांतर में उन सभी बुराइयों से ग्रस्त हो गया जिनके लिए शुरु में उसने हिन्दू धर्म की निंदा की थी और बाद में उसमें तन्त्रवाद के रूप में खुले व्यभिचार का प्रवेश हुआ।

२१. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, प्रो. भगवती प्रसाद चौधरी, हिंदी समिति, लखनऊ, १९७२, पृ. ९३, धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग) डॉ. पी. वी. काणे, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ १९८४, पृ. ४९९, ५०७.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१३)

अवच्छेदकता

दैशिक अवच्छेदकता तथा कालिक अवच्छेदकता के भेद से भी अवच्छेदकता के दो प्रकार बतलाये गये हैं। किसी भी वस्तु का आश्रय होने वाले पदार्थ का एक भाग दैशिक अवच्छेदकता होता है। जैसे, वृक्ष की शाखा के साथ कपि का (साक्षात्) संयोग होता है, वृक्ष के मूल के साथ नहीं। चूंकि वृक्ष की शाखा के साथ कपि का संयोग होता है इसलिये वृक्ष का एक अवयव होने वाली शाखा को उक्त कपि-संयोग का अवच्छेदक माना जाता है। क्योंकि वही (शाखा) वृक्ष के साथ होने वाले कपि के संयोग का नियमन करती है। उसी प्रकार वृक्ष का तना, मूल आदि उक्त वृक्ष पर होने वाले कपि-संयोग के अभाव का नियमन करते हैं। अतः उक्त वृक्ष का मूल वृक्ष पर रहने वाले कपि-संयोग के अभाव का नियमन करता है। मूल से अवच्छिन्न कपि-संयोग का अभाव वृक्ष में होने से मूल उसका 'अवच्छेदक' कहलाता है। कपि-संयोग तथा कपि-संयोग का अभाव इस प्रकार सारे वृक्ष को व्याप्त करने वाले न होते से अव्याप्यवृत्ति माने जाते हैं। ' इस प्रकार के अवच्छेदक को नैयायिक 'तदधिकरणस्य तन्निष्ठ-धर्मावच्छेदकत्व' के रूप में परिभाषित करते हैं। इस प्रकार के अवच्छेदकत्व की सिद्धि मूले वृक्षे न कपिसंयोगः किन्तु शाखायाम्-वृक्ष के मूल के साथ (साक्षात्) कपि-संयोग नहीं है किन्तु शाखा के साथ है-इस प्रतीति के आधार पर होती है। यहाँ मूल यह वृक्ष का एक भाग वृक्ष पर प्रतीत होने वाले कपि-संयोग के अभाव का अवच्छेदक होता है। यहाँ अवच्छेदक स्वाश्रय-संबन्धी के रूप में प्रतीत होता है। स्व अर्थात् कपि-संयोग के अभाव के आश्रय वृक्ष का सम्बन्धी उसका मूल होता है।[१]

यदपि वृक्ष में कपि-संयोग अव्याप्य-वृत्ति होने से शाखादि उसके अवच्छेदक होते हैं, परन्तु वृक्ष के साथ आकाश का संयोग व्याप्य ही होता है। अतः शाखा इत्यादि वृक्ष के अवयव उसके अवच्छेदक नहीं होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त प्रकार का अवच्छेदक अव्याप्यवृत्ति (याने भागशः रहने वाले) पदार्थों का ही होता है, व्याप्यवृत्ति वस्तुओं का नहीं।[३]

केवल संयोग ही नहीं संयोग सम्बन्ध से द्रव्य भी अव्याप्य-वृत्ति होता है। क्योंकि 'इस पर्वत के निम्न भाग पर अग्नि है, शिखर पर अग्नि नहीं है' यह प्रत्यय संयोग सम्बन्ध से अग्नि को भी अव्याप्यवृत्ति सिद्ध करता है, चूंकि वृत्ति-सम्बन्ध जब अव्याप्यवृत्ति होता है तो उसके सम्बन्धी का अव्याप्यवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। वृत्ति के अव्याप्यवृत्ति होने पर वृत्तिमान् का व्याप्य वृत्ति होना असम्भव है।[४]

इस प्रकार जो जिस भाग में जिस सम्बन्ध से रहित होता है वह उस भाग में उस सम्बन्ध से होने वाले अभाव का आश्रय होता है यह नियम है। इस नियम के आधार पर शिखर संयोग सम्बन्ध से अग्नि के अभाव का अवच्छेदक सिद्ध होता है। शिखरावच्छेदेन अग्नि-संयोग के न होने से शिखर अग्नि के अभाव को नियमित करने के कारण उसका अवच्छेदक होता है।[५क]

परन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस अवच्छेदकत्व का स्वरूप क्या है? चूंकि अनतिरिक्त वृत्तित्व-रूप अच्छेदकत्व यहाँ सम्भव न होने से इसे स्वरूप-सम्बन्ध-रूप या अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना करने की अपेक्षा इसे स्वरूप-सम्बन्ध-रूप स्वीकार करने में लाघव होने से नैयायिकों का बहुमत इसे स्वरूप सम्बन्धरूप ही स्वीकार करता है।[५ख]

दूसरे प्रकार का अवच्छेदकत्व कालिक अवच्छेदकत्व कहलाता है। जिस काल में आश्रय में वस्तु का अस्तित्व होता है उस काल में उक्त अवच्छेदकत्व रहता है। जैसे, उत्पत्ति-काल में द्रव्य में गुण का अभाव रहता है। 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं अक्रियं च तिष्ठति' यह नियम है। अतः 'उत्पत्ति-काल में पृथ्वी में गन्ध नहीं होता तथा उत्तर काल में है' इस प्रतीति से उत्पत्ति-काल में पृथ्वी में गन्ध का अभाव भासित होने से उत्पत्तिकाल उक्त गन्धाभाव का अवच्छेदक होता है। उसके बाद के काल में गन्ध होने से बाद का काल गन्ध का अवच्छेदक होता है। इस प्रकार प्रतियोगिमान् में देश-काल-विशेष में जो अभाव प्रतीत होता है उसका अवच्छेदक देश के समान काल भी होता है। प्रतियोगि-युक्त काल में देशविशेषावच्छेदेन (विशेष देश में) तथा प्रतियोगिमान् देश में काल-विशेषावच्छेदेन (विशेष काल में) वस्तु का अभाव होने से देश और काल दोनों भी अवच्छेदक कहलाते हैं।[६]

घट-युक्त काल में भी 'इस समय तन्तु में घट नहीं है' इस प्रतीति से जैसे तन्तु के अवच्छेद से इस काल में घट का अभाव प्रतीत होता है वैसे ही घटाश्रय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कपाल में भी घट का नाश होने पर 'इस समय कपाल में घट नहीं है, इस प्रतीति के आधार पर घटाभाव के अवच्छेदक के रूप में एतत्काल मालूम होता है। 'इस समय तन्तु में घट नहीं है' इस प्रतीति का विषय एतत्कालावच्छेदेन तन्तु में ही घटाभाव होता है। तन्तु–अवच्छेदेन अर्थात् तन्तु से अवच्छिन्न घटाभाव इस काल में प्रतीत नहीं होता है क्योंकि तन्तु में घटाभाव व्याप्यवृत्ति होने से एतत्काल को अवच्छेदक मानने पर उक्त प्रतीति को भ्रम मानना पड़ेगा। इस समय तन्तुओं में घट नहीं है 'इदानीं तन्तुषु घटाभावः' इस प्रतीति में 'इस काल में वर्तमान जो घट है उसका अभाव तन्तुओं में प्रतीत होता है' ऐसा मानने पर काल को अवच्छेदक न मान कर घट-रूप प्रतियोगि के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने पर तन्तु ही उक्त अभाव के अवच्छेदक के रूप प्रतीत होने से देश भी अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है यह सर्वानुभव से सिद्ध है। अतः उक्त अवच्छेदकत्व दैशिक अवच्छेदकत्व के रूप में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार काल और देश दोनों ही अवच्छेदक होते हैं। 'इस समय घर में गौ नहीं है' यहाँ जिस प्रकार 'एतत् काल' घर में रहने वाले अभाव का अवच्छेदक होता है उसी प्रकार एतत् काल में रहने वाले अभाव का अवच्छेदक गृह भी होता है। 'इस समय अश्व में गोत्व नहीं है' इस प्रतीति में गो के अभाव का अवच्छेदक अश्व है या एतत् समय है? इसमें निश्चित रूप से कोई विनिगमक युक्ति न होने से उक्त प्रतीति में देशावच्छेदेन काल तथा एतत् कालावच्छेदेन देश इन दोनों ही प्रकार से गोत्व का अभाव प्रतीत होता है।[७]

तथापि 'इदानीं अश्वे न गोत्वम्' (इस समय अश्व में गोत्व नहीं है) इस प्रत्यय से अश्व में रहने वाले तथा इस काल में रहने वाले गोत्व का अभाव प्रतीत होता है यह कहना समीचिन नहीं है। क्योंकि देश में वर्तमान वस्तु का काल जैसे अवच्छेदक होता है वैसे ही काल में वृत्ति वस्तु का देश भी अवच्छेदक होता है। 'इदानीं गृहे गौर्नास्ति' – इस समय घर में गाय नहीं है – यहाँ घर में वृत्ति गाय के अभाव का नियन्त्रक एतत् काल होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि एतत् कालावच्छेदेन घर में गौ का अभाव है। उसी प्रकार कालवृत्तिता प्रतीत होने पर देश-विशेष में उसकी नियन्त्रकता प्रतीत होती है। जैसे, 'इदानीं अश्वे न गोत्वम्' यहाँ कालवृत्ति गोत्वाभाव का नियामक अश्व होता है। अतः उक्त प्रतीति से अश्वावच्छेदेन एतत्कालवृत्ति गोत्वाभाव प्रतीत होता है। केवल देश या केवल काल ही अवच्छेदक होता है इसमें कोई युक्ति नहीं है। अतः कहा गया है 'देशे कालस्येव कालेऽपि देशस्यावच्छेदकत्वात्'। अनुभव के आधार पर देश और काल दोनों ही अवच्छेदक सिद्ध होते हैं। अन्यथा 'गृहे इदानीं न गौ' इस वाक्य से गृह में प्रतीत होने वाली गवाभावाश्रयता का अवच्छेदक काल नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होगा, जबकि उपर्युक्त वाक्य से गृह-विद्यमानता के साथ ही एतत् काल विद्यमानता भी प्रतीत होती है। अतः काल को भी देशव्याप्तिता का अवच्छेदक मानना आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार देश दैशिक व्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक नहीं होता है वैसे ही काल भी कालिक व्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक नहीं होता है। सर्व देशकालव्याप्त पदार्थ के अवच्छेदक देश और काल नहीं होते हैं। जो अवच्छेद्य का आश्रय हो सकता है वही उसका अवच्छेदक होता है। यही कारण है कि प्रलय-काल गो का अवच्छेदक नहीं होता है।[८] क्योंकि प्रलय काल गौ का आश्रय नहीं है। दैशिक तथा कालिक अवच्छेदकत्व के आधार पर वस्तुओं की अव्याप्य वृत्तिता की व्याख्या की जाती है। कालिक अवच्छेदकत्व भी दैशिक अवच्छेदकत्व के समान स्वरूप-सम्बन्ध विशेष है अथवा स्वतन्त्र पदार्थ माना जा सकता है।

विषयता के लिये कहीं नैयायिक अवच्छेदकता शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, 'पर्वतो अग्निमान्' यहाँ पर पर्वतत्व उक्त अनुमिति का विषय होने से उसमें विषयता नामक पदार्थ (विशेष) है। उसे ही उक्त अनुमिति की अग्नि में रहने वाली विधेयता (इसके विषय में आगे विवेचन किया जायगा) के व्दारा निरूपित उद्देश्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है।[९]

स्वाश्रय-जन्यत्व या स्वाश्रय-विशेषणत्व के अर्थ में भी अवच्छेदकता का प्रयोग न्याय में किया जाता है। जैसे, कर्म कारक की व्याख्या के प्रसङ्ग में धात्वर्थतावच्छेदक फलशालित्वम् यह कार्यत्व की व्याख्या की जाती है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त अवच्छेदकत्व क्या वस्तु है? यहाँ अनतिरिक्त-वृत्तित्वरूप अवच्छेदकत्व नहीं है यह बात तो स्पष्ट है। तथा वह धात्वर्थता का स्वरूप न होने से वह स्वरूप-सम्बन्ध रूप अवच्छेदकत्व भी नहीं है। फलतः स्वाश्रयजन्यत्व ही यहाँ अवच्छेदकत्व के रूप में अभिप्रेत है। यहाँ 'स्व' पद से धात्वर्थता का ग्रहण करने पर उसके आश्रय धात्वर्थ की जन्यता फल में होने से फल धात्वर्थ का अवच्छेदक होता है।[१०]

वैयाकरण लोग सम्बन्ध के अर्थ में भी अवच्छेदक शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, 'फलावच्छिन्न व्यापार' कहने पर फल व्यापार के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है। यहाँ उक्त अवच्छेदकत्व सम्बन्ध-रूप है। अतः उक्त शब्द-प्रयोग का अर्थ होता है 'फल-सम्बन्धी व्यापार'।[११]

पूर्व लेख में कहा गया था कि सोन्दड के मत में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार किया गया है जिसके अनुसार प्रतियोगि में न रहने वाला धर्म भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। जैसे 'घटो नास्ति' – घट नहीं है – कहने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर घट में रहनेवाली प्रतियोगिता का समानाधिकरण धर्म घटत्व उसका अवच्छेदक होता है वैसे ही 'पटत्वेन घटो नास्ति'—पट के रूप में घट नहीं है—कहने पर घट में रहने वाली प्रतियोगिता का व्यधिकरण–धर्म पटत्व भी अवच्छेदक होता है, चूंकि यह प्रतियोगिता का व्यधिकरण अर्थात् प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म होने से उसमें अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व–रूप अवच्छेदकत्व नहीं है, तब यहाँ का अवच्छेदकत्व क्या है? आचार्य गङ्गेश ने तो प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदक: कह कर उक्त प्रतियोगितावच्छेदकत्व का निरास ही कर दिया है। परन्तु जो लोग 'द्रव्यत्वेन गुणो नास्ति' इत्यादि प्रतीति से सिद्ध अभाव स्वीकार करते हैं उनके मत में 'द्रव्यत्वेन' यहाँ प्रयुक्त तृतीया का अवच्छेदकत्व के सिवाय कोई दूसरा अर्थ सम्भव नहीं है। अत: उक्त तृतीयार्थ के रूप में प्रस्तुत होने वाले अवच्छेदकत्व का क्या लक्षण है यह एक विचारणीय पक्ष है।

व्यधिकरण धर्म को अवच्छेदक मानने वालों के मत में उक्त अवच्छेदकत्व एक पारिभाषिक अवच्छेदकत्व है, तथा उसकी परिभाषा है—"स्वव्यापकतत्कान्यत्व तत्सामानाधिकरण्य एतदुभयाभावावत्व"। व्यधिकरण–धर्म में स्वव्यापकतत्कत्व न होने से उभयाभाव है।[१३] यही उसमें रहने वाला अवच्छेदकत्व है। उदाहरणार्थ, जब हम द्रव्यत्वेन गुण का अभाव कहते हैं तो गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक द्रव्यत्व होता है, क्योंकि यहाँ 'स्व' पद से द्रव्यत्व को लेने पर द्रव्यत्व–व्यापक प्रतियोगिता नहीं है। अर्थात्, जहाँ जहाँ द्रव्यत्व है वहाँ वहाँ प्रतियोगिता नहीं है। प्रतियोगिता गुण में है। अर्थात्, द्रव्यत्व–व्यापकत्व प्रतियोगिता में न होने से तत्कत्व भी द्रव्यत्व में नहीं है। अत: तदन्यत्व उसमें है लेकिन द्रव्यत्व में प्रतियोगिता का सामानाधिकरण्य नहीं है। अत: उक्त उभय का अभाव होने से उभयाभावत्व–रूप अवच्छेदकत्व है।

'तदधिकरणावृत्तित्वेन ज्ञायमानत्व' भी व्यधिकरण धर्म में रहने वाला अवच्छेदकत्व है ऐसा मानने पर "द्रव्यत्वेन गुणाभाव" की गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक गुणत्व न हो कर द्रव्यत्व भी होता है, क्योंकि द्रव्यत्व प्रतियोगी गुण में नहीं रहता है।[१३]

स्वाधिकरणवृत्तिभेद प्रतियोगितानवच्छेदकत्व–स्वाधिकरणवृत्तित्वोभयाभाववद्धर्मवत्व को व्यधिकरण धर्म में रहने वाला अवच्छेदकत्व भी कहा जा सकता है।[१४] यहाँ 'स्व' पद से प्रतियोगिता का ग्रहण करने पर स्व "प्रतियोगिता"; उसका अधिकरण गुण है, उसमें रहने वाला भेद है द्रव्यभेद। उसकी प्रतियोगिता द्रव्य में है। उस प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व द्रव्यत्व में नहीं है, तथा स्वाधिकरणवृत्तित्व (स्व–प्रतियोगिता, अधिकरण–गुण,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वृत्तित्व गुणत्व में) भी द्रव्यत्व में नहीं है। अतः उभय (दोनों) का अभाव द्रव्यत्व में है। अतः द्रव्यत्व में उक्त अवच्छेदकत्व है। क्योंकि "गुणवान् घटः" इस प्रकार का निश्चय होने पर भी "द्रव्यत्वेन गुणो नास्ति" — द्रव्य के रूप में गुण नहीं है — यह प्रत्यय होता है। इसलिये द्रव्यत्व को उक्त प्रतीति में भासित होने वाली तथा गुण में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा गुणत्वावच्छिन्न गुण में रहने वाली प्रतियोगिता वाले गुणाभाव के ज्ञान में गुणत्वेन गुणवत्ता का निश्चय विरोधी होने से 'द्रव्यत्वेन गुण नहीं है' यह प्रत्यय ही नहीं हो सकेगा। उक्त प्रकार से द्रव्यत्व उक्त अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने पर 'द्रव्यत्वेन गुणाभाव—बुद्धि' में द्रव्यत्वेन गुण का निश्चय विरोधी होने से उक्त प्रकार का निश्चय कहीं भी सम्भव न होने से ही उक्त प्रकार के व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव की प्रतीति सर्वत्र होती है।

इस प्रकार धूमत्व में धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेद तीन प्रकार का होता है। पहला, शुद्ध सामानाधिकरण्य के रूप में। जैसे, धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूमत्व में है, क्योंकि धूमत्व प्रतियोगिता का समानाधिकरण है। दूसरा, किसी अंश में समानाधिकरण होने पर और किसी अंश में व्यधिकरण होने पर। जैसे, 'धूमत्वेन प्रमेयाभाव' की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूम में, किसी प्रमेय (धूम) में धूमत्व रहने से अंशतः समानाधिकरण है और वृक्षादि प्रमेय में धूमत्व न होने से व्यधिकरण है। तीसरा, शुद्ध वैयधिकरण्य से अवच्छेदकत्व होना। जैसे, धूमत्वेन घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व धूमत्व में है जो कि शुद्ध रूप से प्रतियोगिता का व्यधिकरण है।[१५]

एक और भी प्रकार का अवच्छेदकत्व नैयायिक स्वीकार करते हैं जो कि 'अवच्छेदकावच्छेदेन' प्रतीति में परिलक्षित होता है। जैसे, 'पर्वत वह्निमान् है' इस कथन से पर्वत में अग्नि का बोध दो प्रकार का होता है— "धर्मितावच्छेदक सामानाधिकरण्येन' अर्थात् धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व के समानाधिकरण (एक ही आश्रय में रहने वाले) के रूप में। इस में किसी एक पर्वत में अग्नि का अस्तित्व ज्ञात होता है। दूसरा बोध 'धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन' होता है। इसमें धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व से अवच्छिन्न मात्र में अग्नि की आश्रयता परिलक्षित होती है। यहाँ 'अवच्छेदकावच्छेदेन' प्रतीति में धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व में प्रतीत होनेवाला 'अवच्छेदकत्व' प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध में प्रतीत होने वाली धर्मतावच्छेदक की व्यापकता-निरूपित व्याप्यत्व ही है। जब पर्वत मात्र में अग्नि की आश्रयता प्रतीत होती है तो उसे नैयायिक अवच्छेदकावच्छेदेन-बुद्धि कहते हैं। उनका आशय यह होता है कि धर्मतावच्छेदक प्रकारतावच्छेदक संसर्ग से व्याप्य होता है तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकारतावच्छेदक संसर्ग उसका व्यापक होता है। उदाहरणार्थ, जब हम पर्वत अग्निमान् है ऐसा कहते हैं तब पर्वत और अग्नि के बीच होने वाला संयोग सम्बन्ध पर्वतत्व का व्यापक प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ–जहाँ पर्वतत्व है वहाँ–वहाँ अग्नि का संयोग है। इस प्रकार अग्नि – संयोग में पर्वतत्व की व्यापकता प्रतीत होने से उससे निरूपित व्याप्यता पर्वतत्व में प्रतीत होती है। यही व्याप्यता ही 'धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन बुद्धि' होने पर धर्मितावच्छेदक (पर्वतत्व) में प्रतीत होने वाला अवच्छेदकत्व होती है।

सामानाधिकरण्येन (किसी एक पर्वत में अग्नि की) बुद्धि होने में धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व में उक्त प्रकारतावच्छेदक संसर्ग में प्रतीत होने वाली व्यापकता से निरूपित व्याप्यत्व–रूप–अवच्छेदकत्व नहीं रहता है। इसका असर प्रतिबध्य–प्रतिबन्धक–भाव के विचार के प्रसङ्ग में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

धर्मितावच्छेदक सामानाधिकरण्येन तद्वत्ताबुद्धि या तद्व्याप्यवत्ताबुद्धि अवच्छेदकावच्छेदेन तद्भाववत्ताबुद्धि को प्रतिबन्ध करती है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है – किसी एक पर्वत में अग्नि का ज्ञान या किसी एक पर्वत में अग्निव्याप्य धूम का ज्ञान होने पर पर्वत मात्र में अग्नि के अभाव का ज्ञान नहीं होता है यह अनुभव–सिद्ध है। अतः सामानाधिकरण्येन होने वाला तद्वत्ता ज्ञान तदभाववत्ता का अवच्छेदकावच्छेदेन होने वाले ज्ञान का विरोधक होता है।[१६]

अनुमिति में साध्य की सिद्धि की प्रतिबन्धकता के प्रसङ्ग में भी अवच्छेदकावच्छेदेन ज्ञान और सामानाधिकरण्येन होने वाले ज्ञान की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि (किसी एक पक्ष में साध्य का ज्ञान) उसी पक्ष में होने वाली अनुमिति की विरोधी होती है, परन्तु अवच्छेदकावच्छेदेन साध्य की सिद्धि दोनों ही प्रकार की अनुमितियों की विरोधी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि पर्वत मात्र में साध्य की सिद्धि होने पर न तो पर्वत मात्र में अनुमिति होती है और न ही पर्वत–विशेष में अनुमिति होती है।[१७]

अग्रिम लेख में अवच्छेदकता को सम्बन्ध मानने की युक्तियों का तथा विभिन्न प्रकार की अवच्छेदकताओं का उदाहरण सहित विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे–४११००७

बलिराम शुक्ल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. झळकीकर, भीमाचार्य; क्वचित् तदधिकरणस्य तन्निष्ठधर्मावच्छेदकत्वम् यथा मूले वृक्षे न कपिसंयोगः किन्तु शाखायामित्यादौ वृक्षाधिकरणस्य मूलस्य वृक्षनिष्ठकपिसंयोगाभावावच्छेदकत्वम् वृक्षाधिकरणस्य शाखादे वृक्षनिष्ठकपिसंयोगाभावावच्छेदकत्वम्। न्यायकोशे

२. अत्रावच्छेदकत्वम् च स्वाश्रयसम्बन्धित्वम्। वहीं

३. जगदीश तर्कालङ्कार; व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकानङ्गीकारादिति वाच्यम्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

४. रघुनाथ शिरोमणि; वृत्तेरव्याप्यवृत्तित्वे वृत्तिमतो व्याप्यवृत्तित्व-स्यात्यन्तमसम्भावितत्वात्। दीधिति, सिद्धान्तलक्षणे

५. क. तथाच यो यदवच्छेदेन यदीय यत्सम्बन्धाभाववान् स तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नतदभाववान् इति व्याप्त्या शिखरावच्छेदेन संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवह्न्यभावसिद्धिरिति भावः। जागदीशी; सिद्धान्तलक्षणे

५. ख. देशकालयोरवच्छेदकत्वं तु स्वरूपसम्बन्धमेवेति नियमोत्र ज्ञेयः। न्यायकोशे

६. तथा च प्रतियोगिमतिकाले देशविशेषावच्छेदेन प्रतियोगिमति देशे कालविशेषावच्छेदेन तदभावः। शिवदत्त मिश्र; जागदीशी; सिद्धान्तलक्षणस्य व्याख्यायाम्

७. तथा च यथादेशे वृत्तौ कालस्यावच्छेदकत्वमनुभूयमानम् इदानीं गृहे गौर्नास्तीत्यनुभवबलात्, तथा कालवृत्तावपि देशविशेषस्यावच्छेदकत्व-मनुभूयमानम् इदानीं अश्वेन गोत्वमिति प्रतीतिबलात्, तादृशप्रतीतेः कालावच्छेदेन देशवृत्तिः देशावच्छेदेन वा कालवृत्तिर्विषय इत्यत्र विनिगमनाभावात्। वहीं

८. किञ्चात्र अवच्छेद्याधिकरणत्वं यस्य सम्भवति तस्यैवावच्छेदकत्वम् इति नियमोप्यङ्गीकर्तव्यः। न्यायकोशे

९. अवच्छेदकत्वाख्यो विषयतात्मकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। वहीं

१०. स्वाश्रयजन्यत्वं स्वाश्रयविशेषत्वं वा। वहीं

११. वहीं

१२. वहीं

१३. वहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१४. शिवदत्त मिश्र; अथ व्यधिकरणधर्मत्वं स्वाधिकरणवृत्तिभेद प्रतियोगितानवच्छेदकत्व स्वाधिकरणवृत्तित्वोभयाभाववद्धर्म एव। जागदीशी, व्यधिकरणधर्मानुगमपत्रिकायाम्

१५. शिवदत्त मिश्र; तथाहि धूमत्वे प्रतियोगितावच्छेदकत्वं हि त्रेधा, एक शुद्धसमानाधिकरण्येन, यथा–धूमत्वादिना धूमाद्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वं; द्वितीयं हि किञ्चिदंशे सामानाधिकरण्येन किञ्चिदंशे वैय्यधिकरण्येन, यथा–धूमत्वादिना प्रमेयसामान्याभावादि प्रतियोगितावच्छेदकत्वं; तृतीयं च शुद्ध वैय्यधिकरण्येन, यथा–धूमत्वादिना घटाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदस्य व्याख्यायाम्

१६. शिवदत्त मिश्र; सामानाधिकरण्येन बाधनिश्चयोऽवच्छेदकावच्छेदेनऽनुमिति प्रतिबध्नाति। जागदीशी, सामान्यनिरुक्ते व्याख्यायाम्

१७. रघुनाथ शिरोमणि; पक्षतावच्छेदकस्य सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेनानुमितिदर्शनात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमिति प्रति तदवच्छेदेन सिद्धेः सामानाधिकरण्यमात्रेणानुमिति प्रति तु सिद्धमात्रस्य विरोधित्वम्। दीधिति; पक्षताप्रकरणे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ-समीक्षा

हर्ष (स्व. प्रोफेसर) द्वारका दास; महाभारत का अर्थ; बीकानेर, वाग्देवी प्रकाशन, १९८९, पृ. १४२; मूल्य ७० रुपये (सजिल्द)

रामायण और महाभारत भारतीय सांस्कृतिक विरासत की गंगोत्री और यमुनोत्री हैं ऐसा कहा तो इसमें सम्भवतः तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी। इन दो महान् ग्रन्थों ने दार्शनिकों, अनुसन्धानकर्ताओं, मनीषिओं, शिक्षकों, छात्रों तथा सामान्य जनों–चाहे वे शिक्षित हों या अनपढ़–को समय–समय पर अपनी ओर आकृष्ट ही नहीं किया लेकिन विशाल पैमाने में तथा गंभीर रीति से प्रभावित भी किया है। इन ग्रन्थों का आभिजात्य इसी में निहित है कि इतनी सारी सदियाँ बीत जाने के बावजूद अन्यान्य लोग उक्त ग्रन्थों के आधार पर मानवी जीवन के बारे में नयी दृष्टियों से विचार करने उद्युक्त होते हैं और परिवर्तित परिस्थितियों में पुराने या नये प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने में सफल भी होते हैं।

महाभारत के सिद्धान्तों तथा कथानकों को इस प्रकार नये परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की महती आवश्यकता को महसूस करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ का सृजन हुआ है। उसका केन्द्रीय सिद्धान्त यह है कि महाभारत में दो जीवन–दृष्टियों, जीवन–मूल्य–प्रणालियों का संघर्ष है और इस प्रकार का संघर्ष दो प्रणालियों के पक्षधरों में बीच मात्र सैद्धान्तिक स्तर पर रहने के बजाय उनके जीवन के ही नहीं बल्कि उनके सम–सामयिक कई लोगों के जीवन के विविध आयाम प्रस्तुत तथा प्रभावित करने में सक्षम और समर्थ रहा। प्रस्तुत ग्रन्थ में यह भी भली–भाँती बताया गया है कि उक्त प्रकार का संघर्ष तीन स्तर पर कार्यान्वियत होता है–जीवन–अस्तित्व, जीवन–यात्रा तथा जीवन–उद्दिष्ट। यह भी जिज्ञासु पाठकों के सामने ठीक तरह प्रस्तुत किया गया है कि उस प्रकार का संघर्ष पुरुषार्थ–द्वयात्मक (अर्थ और काम) तथा पुरुषार्थ–त्रयात्मक (धर्म, अर्थ और काम और इनके सन्दर्भ में निःश्रेयस् या पुरुषार्थ–चतुष्टय ?) जीवन–दृष्टियों के पक्षधरों के बीच हुआ संघर्ष है। यह सारा विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

तथापि एक बात की ओर पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं। अर्जुन के द्वारा गीता के आरम्भ में प्रस्तुत किया हुआ प्रश्न अर्जुन की मानसिक दुर्बलता से उद्भूत होता हुआ दिखाया गया है। (देखिये, पृ.१०५–११४) इस प्रकार का मन्तव्य प्रस्तुत करने वाले कई लोग रहे हैं। तथापि हमारी सीमित समझदारी के अनुसार अर्जुन के सामने जो प्रश्न था वह उनकी किसी भी प्रकार की मानसिक दुर्बलता से उद्भूत होता हुआ नहीं दिखायी देता। वस्तुतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिस स्वजन-सिद्धान्त को उन्होंने अपनाया था तथा जिसका समर्थन उन्होंने लगभग अपने सारे जीवन में किया उसके आधार पर महाभारत-युद्ध का समर्थन करना असम्भव था। उसको इस प्रकार प्राप्त परिस्थिति में पराजित हुआ देख कर तथा और कोई समर्थनीय पर्यायी सिध्दात उन्हें न दिखायी देने से उनके सामने यह प्रश्न था कि महाभारत युद्ध जैसे घोर परिणामी सामुदायिक मानवी कृति का समर्थन स्वीकारार्ह तरह से किस प्रकार किया किया जा सकता है और ऐसा समर्थन प्रस्तुत करने का कोई मार्ग न हो तो उक्त प्रकार के युद्ध में सहभागी होना गर्हणीय होगा। ऐसा अपेक्षित रीति से व्यापक और गम्भीर सिद्धान्त श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत किया जिससे अर्जुन के सामने होने वाले प्रश्न का हल हो गया। उक्त सिद्धान्त मूलत: आत्मानात्म विचारसे उद्भूत तथा सम्बन्धित न हो कर मानवी कृति का समर्थन प्रस्तुत करने वाला सिद्धान्त है। यह अलग कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत उक्त सिद्धान्त का सम्बन्ध उनके द्वारा अपनायी जीवन-दृष्टि और जीवन मूल्यों की प्रणाली से है। तभी तो उसका इतना अनन्य साधारण महत्त्व है।

इस प्रकार के कुछ मुद्दों के बारे में यद्यपि गम्भीर मतभेद हो सकता है; तथापि आम-तौर पर ग्रन्थ-कर्ता के द्वारा अपने केन्द्रीय सिद्धान्त को सन्तोषजनक रीत्या प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ की भाषा परिमार्जित है और विवेचन में विषयान्तर नगण्य है। मुद्रण की अशुद्धियाँ भी लगभग अनुपस्थित हैं। इसलिये ग्रन्थ जिज्ञासुओं के द्वारा अभ्यसनीय है। इस प्रकार का एक पठनीय ग्रन्थ पाठकों के सामने प्रस्तुत करने के कारण लेखक तथा प्रकाशक को धन्यवाद।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

मो. प्र. मराठे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थायी सदस्य (संस्थाएँ)

२४. ग्रन्थालयाध्यक्ष,
जवाहरलाल नेहरू ग्रन्थालय
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३
(म. प्र.)

२५. अध्यक्ष,
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००५
(उ. प्र.)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१८८. डॉ. गङ्गाप्रसाद उनसेना
चन्द्रशेखरपुर
जिला – रायगढ़
मध्यप्रदेश – ४७६६६५

१८९. श्रीमती विजया शर्मा
द्वारा डॉ. शर्माजी का नर्सिंग होम
ए/१९–ए, कैलाश कालोनी
नई दिल्ली – ११००४८

१९०. डॉ. प्रभुनारायण मण्डल
स्नातकोत्तर दर्शन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर – ८१२००७
(बिहार)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१९१. डॉ. आनन्द प्रकाश पाण्डेय
१७७, टैगोर टाउन
इलाहाबाद – २११००२
(उ. प्र.)

१९२. डॉ. बी. कामेश्वर राव
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन विभाग
रविशंकर विश्वविद्यालय
रायपुर – ४९२०१०
(म. प्र.)

१९३. डॉ. लक्ष्मण प्रसाद नायक
विद्यामन्दिर
खैरापाली
पो. वाया भुक्ता
जिला – सम्बलपुर
उडीसा – ७६८०४५

१९४. डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह
दर्शनशास्त्र विभाग
गया कॉलेज
गया
(बिहार)

१९५. श्री. आलोक शर्मा
'जयसदन'
८, देवपुरम्
मुज़फ्फरनगर – २५१००१
(उ. प्र.)

१९६. श्री. पीयूषकान्त दीक्षित
नव्यन्याय विभाग
श्री. रणबीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्
३०४/ए, शास्त्रीनगर
जम्मूतवी – १८०००४
(ज और काश्मीर)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१९७. डॉ. नरेश नारायण सिंह
सूर्यश्यामाश्यम
न्यू जीरो माइल
मुजफ्फरपुर – ८४२००१
(बिहार)

१९८. श्री. कृष्णलाल एस्. बजाज
ए/८२, बजाज निवास
उल्हासनगर – ४२१००१
(महाराष्ट्र)

१९९. श्री. ब्रजबिहारी निगम
९, तिवारी कालोनी
माधव नगर
उज्जैन – ४५६००१
(म. प्र.)

२००. डॉ. मन्दारनाथ पाठक
दर्शन विभाग
मधुपुर कॉलेज
मधुपुर – ८१५३५३
देवघर
(बिहार)

२०१ डॉ. रतना देव
३३१/बी, अग्रवाल कालोनी
जबलपुर
(म. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर क लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

हेमचन्द्र पाण्डे	:	सम्बद्धता और उसके प्रकार	३
बच्चूलाल अवस्थी	:	शब्दतत्त्वचिन्तन में क्रियाविवर्त एवं कालशक्ति	१४
स्वामी प्यारी कौड़ा	:	भारतीय लोक–नाट्य परम्परा	२३
शहीद अहमद	:	साधारण–बोध और जी. ई. मूर	२९
रानी रूपमती सिन्हा	:	अशुभ का स्वरूप और रवीन्द्रनाथ टैगोर	३८
आलोक शर्मा	:	प्राचीन भारत में यज्ञ का स्वरूप और वाममार्ग	४३
बलिराम शुक्ल	:	नव्य–न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१३)	५०
		ग्रन्थ–समीक्षा	५९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.